❀ हरि ॐ तत् सत् ❀

श्री जीवन्मुक्ति विवेक रसायन

"श्री कृष्ण निरञ्जन भव भय भञ्जन, मन के मन जानों की जान।
दया युक्त निज चरणों में, अब लीजे यह मेरा बलिदान॥"

(श्री कृष्णामृत रसायन)

लेखक—
सीताराम गुप्त।

❋ हरि ॐ तत् सत् ॐ नमो निरञ्जनाय ❋

श्री जीवन्मुक्ति विवेक रसायन

श्री विद्यारण्य मुनि कृत जीवन्मुक्ति विवेक

का

(सरल हिन्दी भाषानुवाद)

लेखकः—

श्री दुर्गाप्रसाद आत्मज सीताराम गुप्त,
कांधला ज़िला मुजफ्फ़र नगर निवासी।

जिसको

अपने परम मित्र बाबू देवीप्रकाश साहब की सहायता से श्रीमान्
मीरीलाल बाबूराम साहब जैनी ठेकेदार अलीगढ़ ने
निष्काम जिज्ञासु साधु वर्ग की सेवार्थ
प्रकाशित किया।

विनयः—

"श्री कृष्ण निरञ्जन भव भय भञ्जन, मन के मन जानों की जान।
दया युक्त निज चरणों में, अब लीजे यह मेरा बलिदान॥"

(श्री कृष्णामृत रसायन)

सम्वत् १९८६ विक्रमी।

प्रथम बार १०००] [मूल्यः—"मामेकं शरणं व्रज।"]

कर्णसिंह शर्मा के प्रबन्ध से भारतबन्धु प्रेस अलीगढ़ में छपी नं० २८५६-२९

॥ ॐ नमो निरञ्जनाय ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः

समर्पण

इस जीवन्मुक्ति विवेक रसायन ग्रन्थ को, लेखक सीताराम, हृषीकेश कैलाशाश्रम वाले, परमहंस परिब्राजकाचार्य्य पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज के करकमलों में, सविनय सप्रेम सादर समर्पण करता है।

कांधला
पौष सुदी १५ सं० १९८६ विक्रमी

विनीत लेखक
सीताराम गुप्त।

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ।

निवेदन पत्र

महोदय गण !

आप की सेवा में यह नवीन उपहार उपस्थित करता हूं । यह पूज्यपाद श्री विद्यारण्य स्वामी रचित जीवन्मुक्ति विवेक नामक संस्कृत ग्रंथ का हिन्दी भाषा में अनुवाद मात्र है । इस में मूल ग्रंथ नहीं दिया है परंतु अर्थ मूल से अक्षरशः मिलता हुआ है और यथा संभव संयुक्त प्रान्त की साधारण भाषा में दिया गया है । यदि केवल हिन्दी के जानने वाले मुमुक्षु साधु वृन्द, इस से यथोचित लाभ उठा सकें तो यह परिश्रम सफल होगा, यदि कुछ संस्कृत जानने वाले मुमुक्ष जन मूल के साथ मिलाकर इस अनुवाद को पढ़ें तथा विचारें तो उन को अनुपम लाभ होगा, यदि मूल से मिलाने पर दैववशात् कोई त्रुटियां रहगई हों अथवा छपने में अशुद्धियां रह गई हों तो पाठक वृन्द सार ग्राही दृष्टि से क्षमा करें और शुद्धता पूर्वक ठीक करके लेख को सुधार कर पढलें । यदि मुमुक्षु वर्ग अपने लक्ष्य पर दृष्टि रख कर अपनी शान्ति पूर्वक परमात्म स्थिति के आत्म लाभार्थ इस ग्रंथ को पढ़ेंगे तो अवश्य उन पाठकों को परम शान्ति पूर्वक आत्म लाभ होगा। कारण यह है कि लेखक ने मूल ग्रंथ को मौनी की रेती हृषी केष वाले पूज्यपाद महा योगीश्वर परमज्ञानी परमहंस श्री १०८ मुनिवर मंगलनाथ जी महाराज से, श्रवण करके मनन पूर्वक स्वयं दीर्घ काल यथा संभव अनुष्ठान भी किया था इस लिये इस सद्ग्रन्थ का कोई भी अति उपयोगी विषय लेखक को परोक्ष नहीं रहा । साधारणतया रही हुई त्रुटियों को यदि परमात्मा की कृपा होगी तो अगले संस्करण में निवृत्त कर देने का प्रयत्न किया जावेगा ।।ब्रह्मार्पणमस्तु।।

कांधला
पौष सुदी १५ सं० १९८६ विक्रमी

भवदीयः—
सीताराम गुप्त ।

॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

॥ मंगल मूर्त्तये नमः ॥
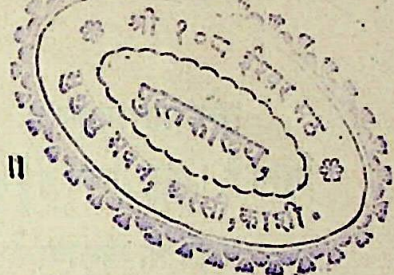
श्री जीवन्मुक्ति विवेक रसायन ।

जीवन्मुक्ति प्रमाण प्रकरण (१)

चारों वेद जिस परमात्मा से स्वाभाविक स्वासों की न्याईं प्रादुर्भूत हुए हैं और जिसने वेदों से सम्पूर्ण जगत् को रचा, उस विद्या के तीर्थ (अपने गुरु रूप) महेश्वर को मैं बन्दना करता हूँ ॥१॥

मैं विविदिषा सन्यास और विद्वत सन्यास को जुदा जुदा कहूँगा, वे दोनों प्रकार के सन्यास क्रम से विदेह मुक्ति और जीवन्मुक्ति के कारण हैं ॥२॥

सन्यास का कारण वैराग है, जिस दिन वैराग हो उसी दिन सन्यास करे यह वेद से प्रमाणित है, उस सन्यास के भेद पुराणों में (लिखे हुए) हैं ॥३॥

वैराग दो प्रकार का कहा है:—एक तीव्र है, दूसरा तीव्रतर है। तीव्र वैराग के होने पर विद्वान् कुटीचक सन्यास करे ॥४॥

शरीर में सामर्थ्य हो तो बहूदक सन्यास करे (यानी रमते राम विचरे), तीव्रतर वैराग होने पर हंस सन्यास को धारण करे। मुमुक्षु साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान के साधन परम हंस सन्यास को करे ॥५॥

पुत्र, स्त्री, गृह आदिक (संसार की सामग्री) के नाश होने पर, जो तुरन्त की ऐसी मति होती है कि संसार को धिक्कार है, यह निश्चय करके वैराग की मन्दता है ॥६॥

इस जन्म में मुझे पुत्र, स्त्री आदिक न प्राप्त हों, ऐसी जो अत्यन्त दृढ़ बुद्धि है, वह वैराग की तीव्रता है ॥७॥

मुझे पुनरागमन वाला कोई भी लोक प्राप्त न हो यह भावना तीव्रतर वैराग है। मन्द वैराग में किसी भी प्रकार के सन्यास का विधान नहीं है ॥८॥

यात्रा में, असामर्थ्य तथा सामर्थ्य के भेद से तीव्र वैराग के होने पर कुटीचक और बहूदक, यह दो प्रकार का सन्यास है, यह दोनों ही त्रिदण्ड धारी हैं ॥ ६ ॥

तीव्रतर वैराग्य होने पर ब्रह्म लोक गमन और मोक्ष प्राप्ति के भेद से दो प्रकार का सन्यास है, हंस सन्यासी ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्म ज्ञानी होता है, परमहंस सन्यासी इसी लोक में तत्वसाक्षात्कारवान होता है ॥१०॥

इन सन्यासों का सम्यक् आचार निरूपण तो हमने पराशर स्मृति की व्याख्या में किया है, इस ग्रन्थ में यह परम हंस सन्यास का ही विवेचन है ॥ ११ ॥

जिज्ञासु और ज्ञानवान इस भेद से परमहंस सन्यास दो प्रकार का माना है। वाजसनेयी शाखा वालों ने जिज्ञासु के प्रति ज्ञान प्राप्ति के लिये सन्यास कहा है ॥ १२ ॥

"इस आत्म साक्षात्कार रूप, सन्यासी के लोक की इच्छा वाले जन, सन्यास करते ही हैं" इस श्रुति का अर्थ तो मन्द बुद्धि वालों के वास्ते वाक्यों द्वारा व्याख्या करके कहते हैं ॥ १३ ॥

लोक दो प्रकार का होता है, एक आत्म लोक और दूसरा अनात्म लोक है, इन में अनात्म लोक तीन प्रकार का है, यह बृहदारण्यक उपनिषद के तीसरे अध्याय में सुना है :—"तीन ही लोक होते हैं, मनुष्य लोक, पितृ लोक और देवलोक, सो यह मनुष्य लोक पुत्र से ही सफल होता है अन्य से नहीं, कर्म से पितृ लोक मिलता है और उपासना से देवलोक"। आत्म लोक का भी उस ही स्थान में श्रवण किया है :—"जो कोई प्रसिद्ध अपने आत्मारूप लोक को साक्षात्कार न करके ही इस लोक से गमन करता

है वह अज्ञात आत्मा रूप लोक इस मनुष्य की रक्षा नहीं करता है" ॥ "आत्मा रूप लोक की ही उपासना करो वह जो आत्मा रूप लोक की ही उपासना करता है उसका कर्म, विनाश को ही नहीं प्राप्त होता है" ऐसा भी कहा है। (अर्थ की व्याख्या करते हैं :-) जो कोई मांसादि पिण्ड वाले इस देह से परमात्मा नाम स्वलोक को मैं ब्रह्म हूं, यह जाने बिना मर जाता है, वह स्वलोक परमात्मा अज्ञात हुआ यानी अविद्या से आवृत हुआ इस अज्ञाता प्रेत अर्थात् मृतक की रक्षा नहीं करता है, यानी शोक मोहादि दोषों को निवृत्त करके इस की पालना नहीं करता है। उपासक का निश्चय करके कर्म नाश को नहीं प्राप्त होता है, अर्थात् एक ही फल देकर नष्ट नहीं हो जाता है, इच्छित सब फल को और मोक्ष को देता है। छठे अध्याय में भी कहा है :-"हम किस प्रयोजन के लिये अध्ययन करेंगे ? हम किस लिये यज्ञ करेंगे ? हम प्रजा का क्या करेंगे ? जिस हमको साक्षात् आत्मा रूपी यह प्रसिद्ध लोक है, यानी अपरोक्ष आत्म साक्षात्कार है।" जो प्रजा के ईश्वर हुए (सन्तान वाले हुए) वे श्मशान को प्राप्त हुए (जन्म-मरणवान हुए) जो प्रजा के ईश्वर न हुए, वे मोक्ष को प्राप्त हुए॥" ऐसा होने से "इस ही सन्यासी के लोक की इच्छा वाले सन्यास करते हैं" इस श्रुति में आत्मलोक कहा गया है यह जाना जाता है। "वह ही यह (अपरोक्ष) महान् अज आत्मा है" इस श्रुति में प्राप्त आत्मा का "एतत्" शब्द से (यानी अपरोक्ष प्रसिद्धि को बताने वाले "इस यह" शब्द से) स्मरण किया है। जो दृष्टि में यानी अनुभव में आवे वह लोक है। इस से आत्मा के अनुभव की इच्छा वाले सन्यास करते हैं, यह श्रुति का तात्पर्य्य अर्थ सिद्ध होता है। स्मृति भी प्रमाण है:—

"ब्रह्मज्ञान के अपरोक्ष साक्षात्कार के लिये परमहंस संज्ञा है। शम दम आदिक सम्पूर्ण साधनों के सहित होना चाहिये।" इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में भी सम्यक् अनुष्ठान किये हुये वेद अध्ययनादिक साधनों से उत्पन्न

हुई जो आत्मज्ञान की इच्छा, उससे यह सन्यास संपादित होने से (संप्राप्त क्रिया होने से) विविदिषा सन्यास कहलाता है। यह ज्ञान का हेतु सन्यास दो प्रकार का होता है, एक तो वह जिसका स्वरूप केवल जन्म प्रदान करने वाले काम्य कर्म आदिक (निषिद्ध निरर्थक चेष्टाओं) का त्याग करना है, और दूसरा प्रैष मन्त्र के उच्चारण पूर्वक दण्ड धारणादिक आश्रम रूप सन्यास भी है।

इस सन्यास के प्रभाव से प्रैष मात्र के उच्चारण से (उस सन्यासी की) माता और पत्नी को पुरुष का जन्म प्राप्त होता है, और वह सुशील यानी श्रेष्ठ स्वभाव वाला होकर, ज्ञान को प्राप्त होता है और ब्रह्म निष्ठ भी होता है।" प्रथम प्रकार के काम्य कर्म त्याग मात्र को भी तैत्तिरीय के आरंभ में श्रवण किया है—"कर्म से अथवा प्रजा (सन्तान) से अथवा धन से नहीं, केवल त्याग से ही अमर भाव यानी मोक्ष को प्राप्त होते हैं" इति, इस त्याग में स्त्रियों का भी अधिकार है।

"भिक्षुकी" इस शब्द से स्त्रियों का भी विवाह से प्रथम अथवा विधवा होने से पीछे सन्यास में अधिकार है, यह दिखाया है। इस हेतु से भिक्षाचरण, मोक्ष शास्त्र का श्रवण, आत्मा का एकान्त में ध्यान भी, उन स्त्रियों को कर्तव्य है और त्रिदण्ड अर्थात् (१) वाणी का दण्ड यानी मौन (२) काया का दण्ड यानी प्राणायाम करना, थोड़ा भोजन करना, और (३) मन का दण्ड यानी संकल्प निरोध करना यह भी धारण करना योग्य है। यह महाभारत के शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म की चतुर्धरी टीका में सुलभा जनक का संवाद है। देवता अधिकरण न्याय द्वारा विधुर अर्थात् अन्य-श्रमी के अधिकार के प्रसंग से तीसरे अध्याय के चौथे पाद में बृहदारण्यक के शारीरक भाष्य के अन्तर्गत वाचक्नवी इत्यादि का श्रवण किया जाता है इसी वास्ते मैत्रेयी का वचन पढ़ते हैं:—"जिस से मैं अमर भाव को न प्राप्त हो सकूं, उस धन से मैं क्या करूँ जिसे आत्मा को ही हे भगवन! आप

जानते हो, उस आत्मा को ही मुझ से कहिये" इति। किसी निमित्त से ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थों के सन्यास आश्रम स्वीकार करने में प्रतिबंधक अर्थात् विघ्न उपस्थित होने पर, अपने अपने आश्रम धर्म के अनुष्ठान होते हुए भी ज्ञान के प्रयोजन वाला मन से कर्मादिक का त्याग (सन्यास का अथवा ज्ञान का अथवा मोक्ष का) विरोधी नहीं होता है। श्रुति स्मृति इतिहास पुराणों में और लोक संसार में भी ऐसे बहुत से तत्ववेत्ता मिलते हैं। परन्तु जो दंड धारण आदिक स्वरूप वाला ज्ञान का हेतु परम हंस आश्रम है, वह पूर्व आचार्यों ने बहुत प्रकार से विस्तार पूर्वक कथन कर दिया है, इसलिये हम शान्त स्थित होते हैं।

इति विविदिषा सन्यास।

हम अब विद्वत्सन्यास का निरूपण करते हैं। श्रवण मनन निदिध्यासन के सम्यक् अनुष्ठान से परम तत्व के साक्षात्कार करने वालों का किया हुआ सन्यास विद्वत्सन्यास कहलाता है। उस विद्वत्सन्यास को याज्ञवल्क्य ने किया था। सो कहा है कि विद्वानों में शिरोमणि यानी मुख्य विद्वान् भगवान याज्ञवल्क्य ने सभा विजय के कथन के प्रसंग में बहुत प्रकार से तत्व के निरूपण द्वारा अश्वलादिक विप्रों को जीत कर, वीतराग के कथन पूर्वक संक्षेप विस्तार से अनेक प्रकार से जनक को समझाकर मैत्रेयी (अपनी भार्या) को बोधन करने की इच्छा से शीघ्र ही आत्म तत्व की ओर उसको सन्मुख करने के वास्ते स्वकर्तव्य सन्यास की प्रतिज्ञा की, पीछे उस को बोध कराके आप सन्यास ले लिया। वह दोनों मैत्रेयी ब्राह्मण के आदि अन्त के वाक्य हम पढ़ते हैं:—

"याज्ञवल्क्य तब निश्चय करके, दूसरे सन्यास रूप वृत्ति को धारण करने की इच्छा करता हुआ। हे मैत्रेयी! इस प्रकार प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोला कि अरे! मैं इस गृहस्थ आश्रम से, सन्यास के प्रति, गमन करना चाहता हूं"

इति "अरे निश्चय करके यही मोक्ष का साधन है, यह कहकर याज्ञवल्क्य ने सन्यास कर लिया" इति और कहोल ब्राह्मण में भी विद्वत्सन्यास कहा है :—"उस ही इस आत्मा को अपरोक्ष जानकर, ब्रह्मवेत्ता जन, पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और ब्रह्मलोक मानादिक की इच्छा से हटकर तब भिक्षाचरण को करते हैं" इति "और यह वाक्य विविदिषा सन्यास पर है, यह शंका नहीं करनी, क्योंकि ऐसा मानने से "विदित्वा" शब्द में पूर्व काल के बोधक "क्त्वा" प्रत्यय का और ब्रह्मज्ञानी के वाचक ब्राह्मण शब्द का बोध हो जावेगा। और यहां ब्राह्मण शब्द जाति वाचक नहीं है, आगे के वाक्य शेष में पाण्डित्य बाल्य और मौन नाम से कहे हुए श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा साध्य ब्रह्म साक्षात्कार के अभिप्राय से "अथ-ब्राह्मण" यह कहा है (यानी श्रवणादिक के पश्चात् ब्राह्मण सन्यास करके भिक्षाचरण करते हैं, इस से जाति इष्ट नहीं है, किन्तु अधिकार संपादन ही ब्राह्मणत्व है यह इष्ट है) शंका :—वहा विविदिषा सन्यास युक्त पुरुष श्रावणादि में प्रवृत्त हुआ भी ब्राह्मण शब्द से कहा है। इसलिये ब्राह्मण (विविदिषा सन्यासी) श्रवण संपादन करके मनन पूर्वक स्थित होवे"।

समाधान :—यह कथन नहीं बनता। होनहार (आगे के ब्राह्मणत्व) का आश्रय लेकर यानी आगे को उस मुमुक्षु ने ब्राह्मण अवश्य बन जाना है इस कल्पना से वहां ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है। ऐसा न माने तो "अथ ब्राह्मण" इस कथन में साधन अनुष्ठान के पीछे होने वाले काल के बोधक "अथ" यानी तब शब्द का क्यों प्रयोग किया जाता। शरीर ब्राह्मण में भी विद्वत् सन्यास और विविदिषा सन्यास स्पष्ट कहे हैं :— "इस आत्मा को ही जानकर मुनि होता है, इस सन्यासी के लोक की यानी आत्मसाक्षात्कार की इच्छा वाले ही सन्यास करते हैं" इति। मुनित्व है मनन शील होना और वह तब होता है जब दूसरा कर्तव्य न हो, इस प्रकार अर्थ से सन्यास ही कहा है। इसी को अगले वाक्य में

स्पष्ट कर दिया है :—"निश्चय करके वे पहले विद्वान उस इस अपरोक्ष आत्मा को जानते हुए ही प्रजा की कामना नहीं करते थे। "हम प्रजा यानी सन्तान का क्या करेंगे जिन हम को यह आत्मा अपरोक्ष साक्षात्कार है" इति वे निश्चय करके पुत्र ईषणा वित्त ईषणा और लोक ईषणा से उत्थान करके (यानी तीनों इच्छाओं को छोड़कर) भिक्षाचरण को करते थे" इति। "अयं लोक" इस का अपरोक्ष साक्षात्कार है यह अर्थ है।

शंका :—यहां मुनि होकर इस कथम से मुनित्व फल का लोभ दिखा कर, विविदिषा सन्यास को कहकर अगले वाक्य में उसी का विस्तार किया है। इसलिये दूसरे विद्वत् सन्यास की कल्पना नहीं करनी।

समाधान :— ऐसा मत कहो, क्योंकि ज्ञान ही तो विविदिषा सन्यास का फल है। और ज्ञान तथा मुनित्व एक हैं यह शंका नहीं करनी। "जानकर मुनि होता है" यहां ज्ञान और मुनित्व पहले पीछे होने वाले दोनों का साधन साध्य भाव प्रतीत होता है।

शंका :—ज्ञान की ही अत्यन्त परिपक्व हुई दूसरी अवस्था मुनित्व है। इसलिये ज्ञान द्वारा पहले ही सन्यास का तो फल यह दूसरा मुनित्व है॥ (इसलिये दोनों एक ही हैं यह अभिप्राय है)।

समाधान :—ठीक है। इसीलिये साधन रूप सन्यास से अलग दूसरे फलरूप सन्यास को हम कहते हैं। जैसे विविदिषा सन्यासी को तत्वज्ञान के लिये श्रवणादिक संपादन करना योग्य है ऐसे ही विद्वत् सन्यासी के लिये भी जीवन्मुक्ति के वास्ते मनोनाश और वासना क्षय संपादन करना उचित हैं। यह हम आगे विस्तार पूर्वक कथन करेंगे। इन दोनों सन्यासों का अन्तर का भेद होते भी, परमहंसत्व के स्वरूप से दोनों मिलाकर "चार प्रकार के सन्यासी भिक्षू होते हैं" इस प्रकार स्मृति में सन्यासियों की चार संख्या कही हैं। पहले और पीछे वाले दोनों सन्यासों की परमहंस रूपता।

जाबाल श्रुति में बोधन की गई है। वहां जनक के सन्यास विषय में पूश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने विशेष अधिकारी का कथन करके पीछे अनुष्ठान करने योग्य साधनों के सहित विविदिषा सन्यास का कथन किया, पीछे अत्रि ने यज्ञोपवीत रहित पुरुष के ब्राह्मणत्व के विषय में आक्षेप किया तब पीछे (याज्ञवल्क्य ने) "आत्मज्ञान ही यज्ञोपवीत है" यह कह कर शंका का समाधान कर दिया। इस से बाह्य यज्ञोपवीत के अभाव होने से परमहंस रूपता निश्चय की जाती है। ऐसे ही अन्य कण्डिका में "परमहंसो नाम" यहां से लेकर संवर्तकादिक बहुत से ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्तों के दृष्टांत कथन करके "अव्यक्त चिन्ह वाले अप्रकट आचार वाले उन्मत्त नहीं परंतु उन्मत्तों (पागलों) की न्याईं आचार वाले थे" यह कहकर विद्वत सन्यासियों को दिखलाया। इसी प्रकार "त्रिदण्ड को, कमण्डलु को, छींके को, पात्र को, जल छानने के वस्त्र को, शिखा और यज्ञोपवीत को इन सब को "भूः स्वाहा" इस मंत्र से जल में छोड़कर आत्मा को गुरु शास्त्र के उपदेश के अनुसार जानने की इच्छा करे यानी आत्म चिन्तन करे" इति इस प्रकार त्रिदण्डी होने पर एक दण्ड वाले विविदिषा सन्यास का विधान करके उसके फल रूप विद्वत्सन्यास का ही कथन किया है। "जन्म लेने समय का रूप धारण किये हुए यानी दिगम्बर सुख दुःखादि द्वन्दों से रहित संग्रह से रहित उस ब्रह्म मार्ग में सम्यक् प्राप्त होकर शुद्ध मन वाला प्राणों के रक्षार्थ शास्त्रोक्त काल में मध्यान्ह के समय राग द्वेष से मुक्त असंग होकर भिक्षाचरण करता हुआ उदर पात्र द्वारा लाभ अलाभ को सम मान कर शून्य गृह में, देव मंदिर, फूंस की कुटी, बमी, वृक्ष की जड़ कुम्हार का अवा, अग्निहोत्र का गृह, नदी का तट पहाड़ की गुफा, छिद्र, वृक्ष की खोखर, जलके झरने के किनारे, अथवा चबूतरे आदिक स्थानों में अनियत निवास स्थान में बसने के पूयत्न वाला ममता रहित परमात्म ध्यान परायण आत्मा के चिन्तन में निरन्तर स्थित शुभाशुभ कर्म को मूल सहित छेदन करने में तत्पर होकर जो सन्यास द्वारा देह को त्याग

करता है वही परमहंस नाम से प्रसिद्ध है" इति।। इस वास्ते इन दोनों को परमहंसत्व सिद्ध हो गया। परमहंसरूपता समान सिद्ध होने पर भी विरुद्ध धर्मों के आरूढ़ होने से उन दोनों का आपस का भेद भी मानने योग्य है, विरुद्ध धर्मों का होना भी आरुणि उपनिषद् और परमहंस उपनिषद् के विवाद से जाना जाता है।

हे भगवन्! किस उपाय से मैं संपूर्ण कर्मों का त्याग करूं। इस प्रकार शिखा यज्ञोपवीत स्वाध्याय गायत्री जपादि संपूर्ण कर्मों के त्याग रूप विविदिषा सन्यास के विषय में आरुणि शिष्य के प्रश्न करने पर गुरु प्रजापति ने "शिखा यज्ञोपवीतं" इत्यादिक उपदेश से सर्वत्याग को कहकर "दण्ड वस्त्र और कौपीन को ग्रहण करे" इस से दण्डादि स्वीकार का विधान करके "तीनों संधि के आरम्भ में स्नान करे। आत्मा में संधि का यानी अभेद रूप समाधि का अभ्यास करे। सर्व वेदों में आरण्यक् का पाठ करे उपनिषद् का पाठ करे।" इस प्रकार ज्ञान के हेतु आश्रम के धर्मों का साधन अनुष्ठान रूप से विधान किया है। "और योगी परमहंसों का यह प्रसिद्ध कौन सा मार्ग है।" इस प्रकार विद्वत्सन्यास के विषय में नारद के प्रश्न करने पर गुरु भगवान प्रजापतिने "स्वपुत्र मित्रादि" इत्यादिक कथन से पूर्ववत् सर्व त्याग बतलाकर कौपीन दण्ड और वस्त्र को स्व शरीर के उपभोग के वास्ते तथा लोक के उपकारके लिये ग्रहण करे, यह कहा। दण्डादि स्वीकार की लौकिकता वर्णन करके "यह भी मुख्य नहीं है" इस कथन से उसकी शास्त्रानुकूलताका निषेध करके 'प्रसिद्ध मुख्य क्या है" ऐसा जो पूछे तो यह मुख्य है "न दण्ड, न शिखा, न यज्ञोपवीत और न वस्त्र को परम हंस स्वीकार करे" इस प्रकार दण्डादि लिंग यानी चिन्ह के अभाव को शास्त्र सम्मत बतलाकर "न शीत और न उष्ण" इत्यादि वाक्य से लोक व्यवहार के अभाव का कथन करके अन्त में "जो पूर्ण आनन्द एक बोध मात्र है वह ब्रह्म स्वरूप मैं हूं ऐसा समझ कर कृतकृत्य होता है" इस अन्त के स्तुति वाक्य से ब्रह्मानुभव मात्र

अवधि को कथन किया है। इसलिये विरुद्ध धर्म युक्त होने से इन दोनोंका महान् भेद अवश्य है। स्मृतियों में भी, यह भेद कथन की रीति देखनी चाहिये।

"इस प्रकार संसार को असार जान कर सार दर्शन की इच्छा से विना विवाह किये परम वैराग का आश्रय लेकर मुमुक्षु जन सन्यास करते हैं। योग का लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञान का लक्षण सन्यास है, इसलिये ज्ञान को प्रधान समझ कर इस जीवित दशा में बुद्धिमान सन्यास करे। इत्यादि विविदिषा सन्यास है। जब परम् ब्रह्म सनातन तत्व को जान लिया तब एक दण्ड को सम्यक् ग्रहण करके यज्ञोपवीत सहित शिखा को त्याग दे। परम् ब्रह्मको सम्यक् जानकर, सर्व को त्यागकर सन्यास करे। इत्यादि विद्वत्सन्यास है।

शंकाः—चौंसठ कला वाली लौकिक विद्या की न्याई कदाचित् कौतुक मात्र से भी ज्ञान की इच्छा होजाना संभव है। इस प्रकार विद्वत्ता (ज्ञानी पना भी) ऊपर के ज्ञानी अपने मन में अपनी पाण्डित्य मानने वाले पुरुष के प्रति देखने में आती है, उन को तो सन्यास करते नहीं देखा। इस लिये विविदिषा और विद्वत्ता कैसे कहिये ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं:—

समाधानः—जिस प्रकार अति भूख लगने पर, भोजन से इतर व्यापार में रुचि नहीं होती है, और भोजन में देरी नहीं सहारी जाती है। इसी प्रकार जन्म के कारण कर्मों में अत्यन्त अरुचि और ज्ञान के साधन श्रवणादिक में अत्यन्त शीघ्रता होती है वैसी अवस्था विविदिषा सन्यास का कारण है। विद्वत्ता की अवधि उपदेश साहस्री में कही है:—

"जैसे देह में आत्मबुद्धि। (यानी अहं भावनारूप मिथ्या ज्ञान) है, ऐसे ही देह में आत्मत्व का बाधक करनेवाला ज्ञान, जिस को अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा में होवे वह मोक्ष का इच्छा नहीं भी करता हुआ मुक्त होता है।"

श्रुति में भी कहा है:—

"उस परमात्मा के साक्षात्कार से हृदय की गांठें खुल जाती हैं, सर्व संशय कट जाते हैं और उस के कर्म क्षीण होजाते हैं।"

श्रेष्ठ भी हिरण्यगर्भादिक पद, जिससे नीचा है, वह परावर है। हृदय में साक्षी का बुद्धि के साथ जो एकत्व अध्यास है वह अविद्या रचित होने से ग्रंथि की न्याई दृढ़ संवद्ध रूप होने से ग्रंथि कहलाता है। आत्मा साक्षी है अथवा कर्ता है? साक्षी होने पर भी वह ब्रह्म रूप है या नहीं? ब्रह्म रूप होते भी, तो बृह्मबुद्धि से ज्ञान हो सकता है या नहीं? ज्ञान हो भी सकता हो, तो उसके ज्ञान मात्र से मुक्ति होती है या नहीं? इत्यादिक द्विविध ज्ञान संशय कहलाते हैं। कर्म वे हैं जो अनारब्ध हैं (यानी जो प्रारब्ध से अलग हैं जिन्होंने अभी फल देना आरम्भ नहीं किया है) जो अगले जन्म के कारण हैं वे यह ग्रंथि, संशय और कर्म तीनों ही अविद्या के रचे हुए होने से ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं। स्मृति में भी यही अर्थ मिलता है—"जिस का भाव यानी आत्मा अहंकारी नहीं है, जिसकी बुद्धि (पुण्य पाप से) लिप्त नहीं होती है वह पुरुष इन लोगों को हनन करता हुआ भी न हनन करता है न बंधन को प्राप्त होता है।" जिस बृह्मज्ञानी का भाव यानी सत्ता स्वभाव वाला आत्मा अहंकारी नहीं है अर्थात् अहंकार के साथ एकत्व अभ्यास से अन्तर में आवरणयुक्त नहीं है। बुद्धि के ऊपर लेप संशय होता है, उसके अभाव होने से त्रिलोकी के घात करने पर भी नहीं बँधता है तो भला और किसी क्रिया से क्या बंधन को प्राप्त होगा यह भावार्थ है।

शंका:—इस प्रकार होने से (यह ज्ञात होता है कि) विविदिषा सन्यास का फल जो तत्वज्ञान् है उससे ही आगामी जन्म तो निवृत्त हो जाता है परन्तु वर्तमान जो बचा हुआ जन्म (जीवन) है उसका भोग से बिना विनाश नहीं हो सकता, इसलिए इस विद्वत्सन्यास के परिश्रम उठाने से क्या लाभ है? ऐसे कहे तो।

समाधान :—यह बात नहीं है। विद्वत् सन्यास जीवन्मुक्ति का कारण है इसलिये जिस प्रकार ज्ञान के वास्ते विविदिषा सन्यास है उसी प्रकार जीवन्मुक्ति के लिये विद्वत्सन्यास सम्पादन करना उचित है।

॥ इति विद्वत्सन्यासः ॥

अब यह जीवन्मुक्ति क्या है ? इसमें क्या प्रमाण हैं ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? और प्राप्ति का क्या प्रयोजन है ? ऐसा पूछे तो कहते हैं:—

जीवित पुरुष को कर्त्तापना, भोक्तापना, सुख दुःखादि लक्षण वाला चित्त का धर्म, क्लेश रूप होने से बन्धन होता है उसका निवारण होना जीवन्मुक्ति है।

शंका :—क्या यह बन्धन साक्षी का निवृत्त किया जाता है अथवा चित्त का। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं क्योंकि तत्वज्ञान से ही साक्षी के बंध की निवृत्ति हो जाती है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि असम्भव है। जब कि जल से द्रवता दूर की जाती हो, अग्नि से उष्णता दूर होती हो तब चित्त से कर्तृत्वादि का निवारण भी सम्भव हो और स्वभाविकता तो सब में समान ही है।

समाधान :—ऐसा मत कहो। अत्यन्त निवारण होना असम्भव भी हो, परन्तु दबा दिया जाना सम्भव है। जैसे जल की द्रवता मिट्टी भर देने से दबा दी जा सकती है, अग्नि की उष्णता मणि मन्त्र आदिक से दबाई जाती है, इसी प्रकार सब चित्त की वृत्तियां योगाभ्यास से रोकी, दबाई जा सकती हैं।

शंका :—प्रारब्ध कर्म तो अविद्या और उसके कार्य प्रपंच के नाश करने में प्रवृत्त हुए तत्वज्ञान के प्रति विघ्न करके अपने फल को भोग कराने के लिये देह इन्द्रिय आदिक को स्थापन करता है और सुख दुःखादि भोग, चित्त वृत्ति को सम्पादन किये बिना हो नहीं सकते हैं, इसलिये वे चित्त की वृत्तियां कैसे दबाई जा सकती हैं ?

समाधानः—ऐसा न कहो चित्त के निरोध से साध्य जो जीवन्मुक्ति है वह भी तो अत्यन्त सुख रूप होने से प्रारब्ध फल के भीतर ही है। (इसीलिए निरोध भी हो सकता है वह भी कर्म फल ही तो है।)

शंकाः—तब कर्म ही जीवन्मुक्ति को संपादन कर देगा, पुरुष प्रयत्न न सही—ऐसा कहने पर

समाधानः—कृषि वाणिज्य आदिक में भी तो यह उपालंभ बराबर एक जैसा ही है। (उस में भी क्यों पुरुषार्थ किया जावे ?)

शंकाः—कर्म स्वयं संस्कार रूप हैं, दृष्ट सामग्री की प्राप्ति के बिना फल देने में असमर्थ हैं, इसलिये खेती आदिक में पुरुष प्रयत्न आवश्यक है।

समाधानः—ऐसा जो कहो तो यही समाधान जीवन्मुक्ति में भी है। पुरुष प्रयत्न के होते हुए भी खेती आदिक की सफलता जहां न दिखाई पड़े वहां दूसरा प्रबल कर्म प्रतिबंधक है, यह कल्पना कर लेना। और वह प्रबल कर्म अपने अनुकूल वृष्टि के अभाव इत्यादिक स्वरूपवाली प्रत्यक्ष सामग्री को संपादन करके ही प्रतिबंधक होता है। और वह प्रतिबंधक उसके वि-रोधी अधिक प्रबल प्रतिबन्धक रूप (काट करने वाले) कारीरी यज्ञादिक स्वरूप वाले कर्म द्वारा निवृत्त किया जाता है। और वह यज्ञादिक कर्म अपने अनुकूल वृष्टि रूप दृष्ट सामग्री को प्राप्त करके ही प्रति बंधक को दूर करता है। बहुत कहने से क्या है आप जो प्रारब्ध कर्म के अत्यन्त भक्त हैं, सो आप को योगाभ्यास रूप पुरुष प्रयत्न की निष्फलता मन से भी सोचना असंभव है, अथवा जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म तत्वज्ञान से प्रबल है, इसी प्रकार उस कर्म से भी योगाभ्यास प्रबल है। जैसे कि योगियों में उद्दालक वीतहव्य आदिकोंका अपनी इच्छा से देह त्याग करना बन जाता है तद्वत्। यद्यपि हम अल्प आयुष वालों को वैसा योग नहीं प्राप्त हो सकता है, तब भी का-मादि रूप चित्त की वृत्तियों के निरोध मात्र में भला क्या कठिनाई है ? यदि

शास्त्रीय प्रयत्न की प्रबलता न अंगीकार करें तो चिकित्सा शास्त्र से लेकर मोक्ष शास्त्र पर्यन्त सबही व्यर्थ हो जावेंगे। कर्म फल के व्यभिचार मात्र से (यानी कहीं कर्म फल देखने में आया कहीं न आया, इतने मात्र से घबरा कर) दुर्बलता को मन में उत्पन्न करना, कदाचित् भी योग्य नहीं है। अन्यथा कभी कभी होने वाले पराजय को देखकर सब राजा गज अश्वादि सेवा की उपेक्षा कर देंगे। इसी वास्ते आनंद बोधा चार्य कहते हैं:—अजीर्ण के भय से आहार का परित्याग नहीं होता अथवा भिक्षुक के भय से रसोई पकाना नहीं छूट सकता, अथवा यूका (जूम) के भय वस्त्र का त्याग नहीं हो सकता, इति। शास्त्रीय प्रयत्न की प्रबलता वसिष्ठ राम के संवाद से स्पष्ट जानी जाती है, "सर्वे मेव हि सदा" यहां से लेकर "तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ" यहां तक।

वसिष्ठ जी:—"हे रघुनन्दन, सदा इस संसार में सब पुरुषों को सब कुछ सम्यक् प्रयत्न वाले पुरुषार्थ से ही संप्राप्त होता है।"

सब=पुत्र, धन, स्वर्ग लोकादिक फल है। पुरुषार्थ=पुत्र कामेष्टि यज्ञ, कृषि वाणिज्य, ज्योतिष्टोम, ब्रह्मोपासना वाला पुरुष प्रयत्न। "शास्त्र विरुद्ध और शास्त्र सम्मत इस भेद से पुरुषार्थ दो प्रकार का कहा है, उन में शास्त्र के प्रतिकूल पुरुषार्थ अनर्थ प्राप्ति के लिये है, और शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ परमार्थ रूप मोक्ष प्राप्ति के वास्ते है।"

शास्त्र विरुद्ध=पर द्रव्य अपहरण, पर स्त्री गमनादि।

शास्त्रीय=नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठानादिक।

अनर्थ=नरक। परमार्थ=स्वर्गादिक अर्थों में सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप अर्थ परमार्थ है।

"बालपने से लेकर अलं यानी सम्यक् अभ्यास किये हुए शास्त्र सत्संगादिक गुणों से युक्त, पुरुष प्रयत्न द्वारा, वह हितका श्रेय अर्थ यानी मोक्ष प्राप्त होता है।

अलम्=संपूर्ण सम्यक् यह अर्थ है। गुणै=गुणों से युक्त (ऐसे बढ़ाकर समझ लेना)। हित=श्रेय रूप।

श्रीरामः—हे मुनीश्वर मुझ को पहले जन्म का वासना जाल, जैसे २ प्रेरणा करता है, वैसे २ ही मैं स्थित होता हूं, मैं दीन क्या करूं? वासना जीव गत धर्माधर्म रूप संस्कार हैं।

वसिष्ठजीः—"इसी वास्ते हे रामजी, स्वप्रयत्न सिद्ध पुरुषार्थ द्वारा अटल श्रेय को प्राप्त होंगे, अन्यथा नहीं।"

जिस वास्ते आप वासना के आधीन हैं, इसीलिये परतन्त्रता की निवृत्ति के वास्ते अपने उत्साह से प्राप्त मन वाणी शरीर से उत्पन्न होने वाले पुरुष के व्यापार की आवश्यकता है।

"प्रथम जन्मों से शुभ तथा अशुभ ऐसे दो प्रकार के वासनाओं के चक्र हे राम जी तुम में विद्यमान हैं, दोनों में से एक पूकार का चक्र अथवा दोनों ही तुमको प्रेरते हैं।

क्या धर्म अधर्म दोनों ही तुमको प्रेरते हैं अथवा एक प्रेरता है यह सशंय है। एक पक्ष में भी (धर्म का अर्थ) शुभ अथवा (अधर्म अर्थात्) अशुभ यह संशय अर्थ से सिद्ध हो जाता है।

"उन दोनों पक्षों में यदि शुद्ध वासना के समूह से प्रेरित होते हो तब उसी रीति से तुम शीघ्र ही अटल पद को प्राप्त होगे।

तत्र = उन दोनों पक्षों में। ततः = तब। उसी क्रम से = अन्य प्रयत्न के विना शुभ वासना से प्राप्त आचरण द्वाराही। शाश्वत (अटल) पद = मोक्ष। "और यदि पूर्व जन्मों की अशुभ भावरूपी वासना आपको संकट में डाल रही है, तब तो उसे आपने आपही पूयत्न से जीतना चाहिये।"

भाव = वासना। तत् = तब। यत्न = अशुभ का विरोधी शास्त्रीय धर्म का अनुष्ठान उससे स्वयं जीतना चाहिये, जिस प्रकार कि युद्ध में स्वयं मृत्यु के सामने होकर ही जीतना संभव है दूसरे पुरुष के द्वारा नहीं, तद्वत्।

"शुभ और अशुभ दो मार्गों से, वासनारूपी नदी बहती है, पुरुष प्रयत्न से शुभ मार्ग में प्रवाह डालना चाहिये।"

दोनों पक्षों में तो शुभ भाग के प्रति प्रयत्न की आवश्यकता भी नहीं है, परन्तु अशुभ भाग को शास्त्रीय प्रयत्न द्वारा हटाकर उसके स्थान में शुभ भाग को ही स्थित करना चाहिये।

"हे बलवानों में श्रेष्ठ रामजी, अशुभ में लगे हुये अपने मन को बलिष्ठ पुरुषार्थ से शुभ मार्ग में ही लगाओ।"

अशुभ में = पर स्त्री द्रव्यादिकों में। शुभ में = शास्त्रार्थ देवता ध्यानादिक में। पुरुषार्थेन = पुरुष प्रयत्न से। बलेन = प्रबल।

"अशुभ से हटाया हुआ चित्त शुभ की ओर जाता है, उस शुभ की ओर से भी अशुभ की ओर चला जाता है। जीव का चित्त बालक की न्याईं होता है, इसलिये उसको बलपूर्वक निवारण कर्त्तव्य है।

जिस प्रकार बालक को मृत्तिका भक्षण से हटाकर फल खाने में लगाते हैं, मणि मोती तोड़ने से हटाकर गेंद आदिक के फेंकने में लगाते हैं, इसी प्रकार चित्त को भी सत्संग द्वारा कुसंग रूपी विरोधी विषय से हटाना संभव है।

"(चित्त) समता, विचार से, शीघ्र ही (वश में होता है), हठ से शीघ्र नहीं, किन्तु धीरे धीरे (साधा जाता है), पुरुष प्रयत्न से चित्तरूपी बालक को सधाना चाहिये।"

चपल पशु को बांधन के स्थान यानी पशुग्रह में प्रवेश कराने के लिये दो ही उपाय होते हैं। हरा घास दिखाना, रोलना खुजलाना, चुम्कारना अथवा वाणी की कठोरता, दण्डादिक मारना भी। इन दोनों में पहले उपाय से शीघ्र ही पशु भीतर चला जाता है और दूसरे उपाय से इधर उधर दौड़कर धीरे धीरे प्रवेश करता है। इसी प्रकार शत्रु मित्रादिक में समता के सुख को समझाना और प्राणायाम प्रत्याहारादि पुरुष प्रयत्न यह दोनों ही चित्त की शान्ति के उपाय हैं। उनमें से प्रथम के मृदु योग से, चित्त शीघ्र ही सध जाता है, दूसरे हठ योग से शीघ्र नहीं किन्तु धीरे धीरे सधता है।

"शीघ्र अभ्यास के बल से, जब तेरी सद्वासना का उदय होने लगे, तब हे शत्रुनाशक रामजी! तुम अभ्यास की सफलता जानो।"

मृदु योगाभ्यास से शीघ्र ही सद्वासना के उदय होने पर अभ्यास की सफलता वक्तव्य है, अल्प काल होने से असम्भावना की शंका नहीं करनी चाहिये।

"अत्यन्त सन्देह होने पर भी शुभ का ही अभ्यास सम्पादन करो, शुभ वासना की वृद्धि होने में, हे तात! कुछ दोष नहीं है।"

शुभ वासना का अभ्यास सम्पूर्ण हुआ या नहीं, यह सन्देह हो तब भी शुभ वासना का ही अभ्यास करे। सो जैसे, सहस्र नाम के जप में लगे हुए को, दसवें सैकड़े की गणना में, यदि सन्देह हो तो फिर भी सौ जप लेना। जप असम्पूर्ण था, तो सम्पूर्णता रूपी फल होगा, और सम्पूर्णता थी, तो जप के अधिक होजाने पर, सहस्र जप में दोष नहीं आता, तद्वत्।

"जब तक आप, अप्रबुद्ध मन वाले और परमात्म पद से अज्ञात हो, तब तक गुरु शास्त्र प्रमाण से निर्धारित शुभ मार्ग पर आचरण करो।"

पीछे अन्तःकरण के दोष पक्क होकर निवृत्त हो जाने पर, सन्देह रहित आत्म वस्तु के साक्षात्कार होने पर तुमको निरोध के अभ्यास से वह शुभ वासना का समूह भी त्याग देना चाहिये।

जो शुभ श्रेष्ठ पुरुषों से सेवित वासना है प्रेम से आत्म जिज्ञासा से उस शुभ के अनुसारी होकर, जो अद्वितीय पद है उसका साक्षात्कार करके, पीछे हे साधु ! उसको भी त्याग कर, तुम स्थित हो जाओ। अर्थ स्पष्ट है इसलिए, अभ्यास से, कामादिक का निरोध सम्भव होने से जीवन्मुक्ति में विवाद नहीं करना चाहिये।

॥ इति जीवन्मुक्ति स्वरूपम् ॥

श्रुति स्मृति के वाक्य जीवन्मुक्ति की स्थिति में प्रमाण हैं। वे वाक्य कठवल्ली आदिक में पढ़े जाते हैं:—"विमुक्तश्च विमुच्यते" अर्थात् "विमुक्त हुआ विमुक्त होता है" इति। जीता हुआ ही कामादिक प्रत्यक्ष बन्धन से विशेष मुक्त हुआ देह पात होने पर भावी जन्म ग्रहण रूप बन्धन से भी, विशेष मुक्त हो जाता है। ज्ञान से पहले भी मुमुक्षु, शम दमादि साधनों के अनुष्ठान द्वारा कामादिक दोषों से छूटता ही है, तब भी कामादिक जो उत्पन्न होवे हैं, उनका विरोध प्रयत्न से होता है, यहां इस जीवन्मुक्ति में तो, बुद्धि की वृत्ति का अभाव होने से कामादिक उत्पन्न ही नहीं होते। इसलिये, "विशेषतः" यह शब्द कहा। इसी प्रकार देहपात होने पर प्रलय समय तो कुछ काल भावी देह के बंध से छूट ही जाता है, यहां इस प्रसंग में तो आत्यन्तिक मोक्ष है, इसलिए "विशेषेण" पद कहा। बृहदारण्यक् में भी पढ़ते हैं:—"जो इसके हृदय में स्थित् कामना हैं, जब वे सब छूट जाती हैं तब मनुष्य अमृत होता है, इस जीवित दशा में ही ब्रह्म को सम्यक् प्राप्त होता है ॥" इति श्रुतिः ॥

अन्य श्रुति में भी "चक्षुवान् हुआ भी चक्षु रहित् की न्याई है श्रोत्र इन्द्रिय वाला भी मानो कर्ण रहित है" इति। इसी प्रकार अन्यत्र भी दृष्टान्त ले लेना चाहिए। स्मृतियों में जीवन्मुक्त स्थित प्रज्ञ, भगवद्भक्त गुणातीत, ब्राह्मण, अति वर्णाश्रमी इत्यादि नामों से उस २ स्थान में वैसा ही वर्णन

व्यवहार किया गया है। वसिष्ठ राम सम्वाद में "नृणां ज्ञानैकनिष्ठानां" यहां से लेकर "सत्किंचदवशिष्यते" इस श्लोक तक, अर्थात् "एक ज्ञान निष्ठा वाले पुरुषों को" यहां से लेकर "कुछ सत् ही शेष रहता है" यहां तक जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं:—

श्री वसिष्ठ जीः—"एक ज्ञान निष्ठा वाले आत्मज्ञान के विचार वाले पुरुषों को, वह जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है जो विदेहमुक्ति की न्याईं है।"

एक ज्ञाननिष्ठा क्या है? लौकिक वैदिक कर्मों का त्याग। देह इन्द्रिय के रहने न रहने मात्र से, दोनों प्रकार की मुक्ति का भेद है, अनुभव से भेद नहीं है क्योंकि द्वैत की प्रतीति तो दोनों अवस्थाओं में ही नहीं है।

श्रीराम जीः—"हे ब्रह्मन्, विदेह मुक्त और जीवन्मुक्त के लक्षणों को कहिये, जिस शास्त्र प्राप्त ज्ञान द्वारा, मैं वैसा ही प्रयत्न करूँ।"

श्री वसिष्ठ जीः—"जिस पुरुष के व्यवहार करते हुए भी, यह संसार ज्यों का त्यों स्थित हुआ भी परमार्थ दृष्टि से अस्त हो जाता है चिदाकाश मात्र ही स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

यह प्रत्यक्ष गिरि नदी समुद्रादिक जगत् ज्ञाता के देह इन्द्रिय व्यवहार के सहित महाप्रलय काल में परमेश्वर से अपने में लीन किये जाने पर स्वरूप से नष्ट होकर अस्त होजाता है। इस सांसारिक अवस्था में तो ऐसा नहीं होता, किन्तु देह इंद्रियादि व्यवहार बना ही रहता है। गिरि नदी आदिक का भी ईश्वर उपसंहार नहीं करते, वह पूर्ववत् वैसा ही बना हुआ अन्य सब प्राणियों की दृष्टि में आता रहता है। जीवन्मुक्त पुरुष के तो जगत को प्रतीत कराने वाली वृत्ति का अभाव होने से, सुषुप्ति अवस्था की न्याईं सर्व संसार अस्त होजाता है। स्वयं प्रकाशमान चिदाकाश केवल शेष रहता है। बद्ध मनुष्य की वृत्तियों का अभाव सुषुप्ति अवस्था में मुक्त के

समान भी है, परन्तु भावी बुद्धि की वृत्ति के संस्कार विद्यमान रहने से, वह जीवन्मुक्त अवस्था नहीं है।

"सुख से उस के मुख की कान्ति प्रकाशती नहीं है और दुःख से मन्द नहीं होती है यथा प्राप्त अवस्था में जिसकी स्थिति है वह विद्वान् जीवन्मुक्त कहलाता है।"

मुख की कान्ति हर्ष है। माला चन्दन सत्कारादि सुख की प्राप्ति होने पर भी संसारी की न्याईं हर्ष उदय नहीं होता है। मुख की कान्ति का अस्त होना दीनता है धन हानि धिक्कार आदिक दुःख की प्राप्ति होने पर भी वह दीन नहीं होता है। अब तक के स्वप्रयत्न विशेष के विना प्रारब्ध कर्म से प्राप्त पूर्व प्रवाह पतित जो भिक्षान्नादिक यथा प्राप्त उपस्थित हों, उस से देह की रक्षा होती है। समाधि की दृढ़ता से माला चन्दनादि की प्रतीति का अभाव है। कदाचित् व्युत्थान दशा में ऊपर से प्रतीत भी हों, परन्तु विवेक की दृढ़ता से ग्रहण त्याग बुद्धि नहीं होती, इसलिये हर्ष शोकादिक भी नहीं होते।

"जो जाग्रत अवस्था में, सुषुप्ति में स्थित है जिस के जाग्रत नहीं है जिस का बोध वासना रहित है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने अपने गोलक में स्थिति होने से उनके निरोध का अभाव होने से जाग्रत है। मन की वृत्ति का अभाव होने से सुषुप्ति में स्थिति है। इसीलिये, इन्द्रियों से जो विषयों की प्रतीति है इस जाग्रत के लक्षण का अभाव होने से जाग्रत तब नहीं है। बोध होते हुए भी जो ब्रह्म ज्ञानी होने का अभिमान आदिक उत्पन्न होना है और भोगार्थ कामादिक का उत्पन्न होना है सो वह बुद्धि के दोष हैं, वासना की वृत्ति का अभाव होने से उन दोषों की निवृत्ति से बोध की निर्वासनीकता है।

"राग द्वेष भय आदिक के अनुसार वर्तता हुआ भी जो हृदय में आकाशवत् अति निर्मल निर्लेप असंग है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।" राग

के अनुसार भोजनादि वृत्ति है। द्वेष के अनुसार होना बौद्ध कापालिक आदिक विधर्मियों से विमुखता (यानी उपेक्षा वा त्याग) है। भय के अनुसार होना सर्प व्याघ्र आदिक से भागना है। आदि शब्द से मत्सरादिक समझ लेना। मत्सर के अनुसार होना यह है कि अन्य योगियों से बढ़कर समाधि आदिक साधनों का अनुष्ठान करना। व्युत्थान दशा में पूर्वाभ्यास के कारण प्राप्त हुए ऐसे रागादि के अनुसारी आचरणों के उपस्थित होने पर भी विश्रान्त चित्त पुरुष के हृदय में कालुष्य का अभाव होने से अन्तःकरण की स्वच्छता है। जिस प्रकार धूम धूलि मेघादि से युक्त होने पर भी आकाश निर्लेप स्वभाव है इस लिये अत्यन्त स्वच्छ है, तद्वत्।

"जिस के अहंकार वाला भाव (यानी आत्मा) नहीं है करते या न करते हुए भी जिस की बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

पूर्वार्ध की तो विद्वत्सन्यास के प्रसंग में व्याख्या करदी है। लोक व्यवहार में बद्ध पुरुष का शास्त्रीय कर्म करते हुए मैं करता हूं इस प्रकार तब चिदात्मा अहंकारी होता है। मैं स्वर्ग को प्राप्त हूंगा इस हर्ष से बुद्धि लिप्त होती है। न करने पर तो मैंने छोड़ दिया ऐसी अहंकारता होती है और स्वर्ग के लाभ से जो विषाद यानी खेद होता है सो लेप है। इस प्रकार शास्त्र निषिद्ध कर्म और लौकिक कर्ममें भी यथा संभव जोड़ लेना। जीवन्मुक्त पुरुष के तो (अन्तःकरण आत्मा के) एकत्व भ्रम का अभाव होने से और हर्षादिक का अभाव होने से दोनों दोष नहीं हैं। "जिससे जनता उद्विग्न अर्थात् क्षुभित नहीं होती और जो जनता से क्षोभ को नहीं प्राप्त होता, हर्ष ईर्षा और भय से मुक्त है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

मारने पीटने आदिक में प्रवृत्त न होने से लोक उस से दुखी नहीं होता है और लोक भी इस को मारते पीटते नहीं हैं और यदि कोई दुष्ट मार पीट भी ले तो इस के बेपरवाह होने के कारण, वैसी कल्पना उदय न होने से वह लोक से क्षुभित नहीं होता है।

"शान्त होगया संसार विकल्प जिसका, जो विद्या रूपी कला वाला हुआ भी कला रहित है। जो चित्त वाला हुआ भी निश्चित्त है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

जो शत्रु, मित्र मान अपमानादि विकल्प हैं, वे संसार कलना हैं, वे जिसके शान्त हो गये वह पुरुष शान्त कलना हैं। चौंसठ विद्या कला हैं उनके विद्यमान रहते भी उनके अभिमान और व्यवहार दोनों का अभाव होने से निष्कलता यानी कला से रहित होना है। चित्त स्वरूप से है भी, परन्तु वृत्ति का उदय न होने से निश्चित्तता है। जहां दूसरा पाठ "निश्चिन्तता" है वहां प्रारब्ध की वासना के आधीन होने से आत्म ध्यान वाली वृत्ति के विद्यमान रहते भी संसारी वृत्ति के अभाव होने से निश्चिन्तता है।

"जो पुरुष संपूर्ण पदार्थ समूह के विषय में व्यवहार युक्त हुआ भी शीतल है, जैसा कोई पदार्थ व्यवहार करने में होता है तद्वत् और पूर्ण आत्मा के परायण है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।"

परगृह, विवाह उत्सवादिक में आप जाकर उनके कार्यों में व्यवहार करता हुआ भी लाभ अलाभ में हर्ष विषाद रूपी बुद्धि के संताप को नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार यह जीवन्मुक्त स्वकार्य में भी शीतल अर्थात् संताप रहित है। केवल संताप के अभाव से ही शीतलता नहीं है, किन्तु परिपूर्ण स्वरूप के चिन्तन से भी शीतलता है।

इति जीवन्मुक्त लक्षणम्।

अब विदेह मुक्त के लक्षण कहते हैं:—

"विद्वान् जीवन्मुक्त अवस्था को त्यागकर अपना देह मृत्युकाल के वश होने पर विदेह मुक्तभाव को ऐसे प्राप्त होता है जैसे वायु निश्चलता को" जिस प्रकार वायु कदाचित् चलना छोड़कर निश्चलरूप से स्थित होता है,

ऐसे ही मुक्तात्मा भी अविद्या उपाधि कृत संसार को त्याग कर स्वसरूप से स्थित होता है।

"विदेहमुक्त हुवा न हर्ष के उदय को प्राप्त होता है न अस्त होता है, न उपराम होता है, न कारण रूप है, न कार्य रूप है, न अहंरूप से परिछिन्न वा समष्टि है, न इतर समष्टि है और न दूरस्थ है यानी कुछ परोक्ष नहीं, अपना आप ही है।"

उदय अस्त होना हर्ष विषाद हैं। नच शाम्यति=और परित्यागी नहीं होता, क्योंकि लिंग देह वहीं लीन हो जाता है। सद्वाच्य जगत का कारण माया उपाधि स्वरूप है न प्राज्ञ ईश्वररूप है, और असद वाच्य, कार्य, भूत, भौतिक रूप भी नहीं है, न दूरस्थ है यह कहने से माया से अतीत भी नहीं है (यह कहा)। न च, यह कहने से यह तात्पर्य है कि समीपस्थ भी नहीं। अहं न च=और न समष्टि है नेतरः=व्यष्टि भी नहीं है, व्यवहार के योग्य विकल्प कोई भी नहीं है यह अर्थ हुआ।

"उस समय वह निश्चल है, मन से भी अगम्य है न तेज रूप है न तम स्वरूप है, निरन्तर व्याप्त है, वर्णन नहीं किया जा सकता यानी इन्द्रियों से अग्राह्य है, और रूप रहित है प्रकाशित नहीं हो सकता, कुछ सत्ता मात्र शेष रहता है।

इस प्रकार विदेह मुक्ति को जीवन्मुक्ति के सदृश और उससे उत्कृष्ट कथन किया। जीवन्मुक्ति में भी जितनी जितनी निर्विकल्पता की अधिकता है उतनी २ ही उसकी श्रेष्ठता जानना।

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में स्थित प्रज्ञ के लक्षण कहे हैं :—

अर्जुन ने कहा :—

" हे केशव ! समाधिस्थ स्थित प्रज्ञ के क्या लक्षण हैं? स्थित प्रज्ञ कैसे बोलता है? कैसे बैठता है और कैसे गमन करता है ?"

प्रज्ञा नाम तत्त्वज्ञान का है, वह दो प्रकार का होता है, स्थित और अस्थित। जिस प्रकार जार पुरुष में आसक्त नारी की बुद्धि सर्व व्यवहारों में जार का ही चिन्तन करती है इन्द्रियों से प्रतीत होते हुए और किये जाते भी, गृह के कार्य, अत्यन्त ही विस्मृत हो जाते हैं, ऐसे ही पर वैराग युक्त पुरुष के योगाभ्यास की दृढ़ता से अत्यन्त वशीकृत चित्त में तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होने पर उसकी वह बुद्धि जारवत् निरन्तर तत्त्व का ही चिन्तन करती है, वही यह स्थित प्रज्ञता है। उक्त गुण रहित पुरुष के किसी भी पुण्य विशेष से कदाचित् तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी गृह कार्य की न्याईं वहीं तत्त्व का विस्मरण हो जाता है सो यह अस्थित प्रज्ञता का अभाव रूप अस्थित प्रज्ञता है, इसी अभिप्राय से श्री वसिष्ठ जी ने कहा है :—

"परपुरुषासक्त नारी गृह कर्म में लगी हुई भी हृदय में उसी पर संगरूप रसायन का स्वाद लेती रहती है।

इसी प्रकार परं शुद्ध स्वरूप में विश्रान्ति को प्राप्त धीर पुरुष बाहर यानी मानसी और शारीरिक अनात्म व्यवहार करता हुआ भी अन्तर हृदय से उस आत्मानन्द स्वरूप का ही स्वाद लेता रहता है।"

यहां स्थित प्रज्ञ, काल भेद से, दो प्रकार का है। एक समाहित, दूसरा व्युत्थान को प्राप्त। इन दोनों के लक्षण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध श्लोक द्वारा पूछे हैं। समाधिस्थ स्थित प्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ? यानी किन लक्षण वाचक शब्दों से सर्व जन इस विद्वान् का कथन करते हैं। व्युत्थान को प्राप्त स्थित प्रज्ञ, कैसे वाणी के व्यवहार को करता है, उसके बैठन और चलन में, मूढ़ों से क्या विलक्षणता है। श्री भगवान् ने कहा:—

"हे पार्थ! जब सब मनोगत कामनाओं को (वह पुरुष) त्याग देता है। अपने स्वरूप से अपने स्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, तब स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

कामना (यानी भोगेच्छा) तीन प्रकार की होती है। बाह्य की, अन्तर की और वासना मात्र रूप वाली। उपार्जित मोदकादिक बाह्य कामना हैं। आशा के लड्डू मिठाई आदिक अन्तर की कामना हैं। मुसाफ़िर को जो मार्ग के तृण वृक्षादिक आप से आप ही (दिखाई दे जाते हैं और) प्रतीत होते हैं वे वासना रूप हैं। समाहित पुरुष सम्पूर्ण बुद्धि की वृत्ति के नाश से सर्व का परित्याग कर देता है, और उसके मुख की प्रसन्नता के चिन्ह से सन्तोष भी जान पड़ता है, वह सन्तोष भी भोगों में नहीं है, किन्तु कामनाओं के त्याग से सन्तोष आत्मा में ही है, क्योंकि बुद्धि परमानन्द रूप आत्मा ही के सन्मुख है, और वहां आत्मानन्द भी संप्रज्ञात समाधिवत् मन की वृत्ति से नहीं लखा जाता है, किन्तु स्वप्रकाश चिद्रूप आत्म स्वरूप से ही ज्ञात होता है। सन्तोष भी वृत्ति रूप नहीं हैं किन्तु संस्कार रूप है। इस प्रकार के लक्षण वाचक शब्दों से समाहित पुरुष का वर्णन होता है।

"दुःखों में क्षोभ रहित मन वाला होता है, सुखों में तृष्णा रहित होता है, भय, राग और क्रोध से रहित, मनन शील पुरुष स्थित प्रज्ञ कहलाता है।"

दुःख=रागादि निमित्त से जन्य, रजोगुण का विकार रूप सन्ताप स्वरूप और विरोधी चित्त की वृत्ति दुःख है। वैसे दुःख के प्राप्त होने पर, मैं पापी हूं, मुझ दुरात्मा को धिक्कार है। ऐसी सन्ताप रूप, और तमोगुण का विकार होने से भ्रान्तिरूप, चित्त की वृत्ति उद्वेग है। यद्यपि यह क्षोभ विवेक की न्याई भान होता है, तो भी यदि पूर्व जन्म में हुवा होता तो पाप की प्रवृत्ति में प्रतिबंधक होने से सफल होता। अब तो निष्फल है इस लिये भ्रान्तिरूप जानना। सुख=यह है, राज्य या पुत्र के लाभ आदिक से जन्य प्रीतिरूप अनुकूल चित्त की वृत्ति। (स्पृहा=) उस सुख की इच्छा होने पर आगे के फल देने वाले वैसे सुख का कारण जो पुण्य है उसका अनुष्ठान किये बिना वृथा ही उस सुख की इच्छारूप तामसी वृत्ति स्पृहा है।

उनमें भी सुख दुःख को प्रारब्ध कर्म से प्राप्त होने से और क्योंकि व्युत्थित चित्त में वृत्तियों का उत्पन्न होना भी संभव है इसलिये वे उद्वेग और स्पृहा दोनों ही उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु विवेकी के उद्वेग स्पृहा संभव नहीं हैं। इसी प्रकार इस विद्वान् को तामसरूप होने से राग, भय और क्रोध भी नहीं होते हैं, क्योंकि यह वृत्तियां (सुख दुःख वत्) कर्मों के फल रूप नहीं हैं किन्तु अविद्या की वृत्ति हैं इस विद्वान् के नहीं होती हैं। इस प्रकार के लक्षणों से लक्षित स्थित प्रज्ञ अपने अनुभव को प्रकट करके शिष्यों की शिक्षार्थ उद्वेग के अभाव से और निस्पृहता के बोधन करने वाले उपदेश को कहता है, यह अभिप्राय है।

"जो सर्वत्र स्नेह रहित है यानी जिसका कहीं भी स्नेह नहीं है उस २ शुभ को प्राप्त होकर स्तुति नहीं करता है और अशुभ को प्राप्त होकर द्वेष नहीं करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।" जिस अन्य की हानि वृद्धि के होने पर उसका अपने में आरोप हो वैसी अन्य के विषय में जो मोह रूप तामस वृत्ति विशेष है सो स्नेह है। सुख का कारण जो अपनी स्त्री आदिक हैं वह शुभ वस्तु हैं उनके गुण कथनादि में प्रवृत्त बुद्धि की वृत्ति अभिनन्दन है। यहां का गुण कथन दूसरे को अच्छा न लगने से व्यर्थ है, इसलिये उसका हेतु अभिनन्दन तामस है। दोष दर्शन के उत्पन्न करने से दुःख की हेतु जो पर की विद्यादि वह इसके प्रति अशुभ विषय है। उसकी निन्दा में प्रवृत्ति होने वाली जो बुद्धि की प्रवृत्ति है वह भी तामस है। उस विद्या की निन्दा द्वारा निवारण की योग्यता न होने से (यानी दूर न हो सकने से) वह निन्दा व्यर्थ है इसलिये वे यह तामस धर्म विवेकी में कैसे हो सकते हैं।

"जब यह पुरुष कछवे के अंगों की न्याईं (सहज स्वभाव से बिना प्रयत्न सब ओर से इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कहलाती है।"

व्युत्थान को प्राप्त स्थित प्रज्ञ के संपूर्ण तामस वृत्तियों का अभाव है,

यह पूर्व श्लोकों से कथन कर दिया है। समाहित पुरुष के तो वृत्तियां ही नहीं होती हैं, तामस रूपता की शंका ही कहां है यह तात्पर्य्य है। "निराहार पुरुष के विषय निवृत्त हो जाते हैं परन्तु रस नहीं दूर होता है इस स्थित प्रज्ञ के तो रस भी परमात्म साक्षात्कार करके दूर हो जाते हैं।" प्रारब्ध कर्म, सुख दुःख के हेतु किन ही चन्द्र दर्शन अन्धकारादिक स्वरूप वाले विषयों को आप ही रच देता है। अन्य गृह क्षेत्रादिकों को पुरुष के उद्योग द्वारा रचता है। उनमें चन्द्र दर्शनादिक विषय पूर्ण इन्द्रियों के संहार वाली समाधि से ही निवृत्त होते हैं अन्यथा नहीं जा सकते हैं। गृहादिक तो समाधि के विना भी निवृत्त होजाते हैं। जो संपादन किया जावे सो आहार यानी उद्योग है, निरुद्योग पुरुष के विषय आदिक निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु रस नहीं दूर होता है, रस नाम मानसी तृष्णा का है। वह रस भी परमानन्द रूप परं ब्रह्म के दर्शन होने पर थोड़े आनन्द के कारणों से निवृत्त हो जाता है यानी विषयों को छोड़ देता है "हम सन्तान का क्या करेंगे जिन हमको यह आत्मा अपरोक्ष साक्षात्कार है" यह श्रुति प्रमाण है।

"हे कुन्ति पुत्र, यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष की भी मनको मथने के स्वभाव वाली इन्द्रियां बलात्कार से मनको (विषयों में) खींच कर ले जाती हैं।" उन सब इन्द्रियों को रोक कर मेरे परायण समाहित होकर बैठना चाहिये, क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है यानी उसका तत्वज्ञान स्थिर है॥"

उद्योग के त्याग को और ब्रह्म दर्शन के प्रयत्न को करते हुए भी कभी कभी हो जाने वाले प्रमाद की निवृत्ति के वास्ते समाधि का अभ्यास है। सो यह "कैसें स्थित होता है" इस प्रश्न का उत्तर है। "विषय चिन्तन करने वाले पुरुष के उन विषयों में राग उपजता है राग से काम यानी इच्छा का वेग उपजता है और प्रतिबद्ध काम से (विघ्न करने वाले के प्रति) क्रोध उपजता है" क्रोध से सम्यक अविवेक (यानी निर्णय की शक्ति का अभाव)

हो जाता है अविवेक से स्मृति का भ्रम हो जाता है यानी उल्टा विपरीत स्मरण हो आता है स्मृति के भ्रष्ट होने से बुद्धि का विनाश होता है यानी यथार्थ तत्व का निश्चय नहीं रहता है और बुद्धि के नाश से साधक स्वयं नष्ट हो जाता है यानी मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित हो जाने से वह विनष्ट हो जाता है।"

समाधि अभ्यास के न होने पर प्रमाद के प्रकार को कथन किया। संग=ध्येय विषय का मिलाप होना। संमोह=विवेक से बहिर्मुखता। स्मृति विभ्रमः=तत्व के स्मरण चिन्तन का अभाव। बुद्धिनाशः=विपरीत भावना की वृद्धि रूप दोष से प्रतिबद्ध ज्ञान को मोक्ष प्रदान के सामर्थ्य का अभाव" मन को स्वाधीन रखने वाला पुरुष राग द्वेष से रहित अपने आधीन इंद्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ, प्रसाद को अर्थात् अन्तःकरण की निर्मलता रूपी प्रसन्नता को प्राप्त होता है।"

विधेयात्मता मनका वश में होना है। प्रसाद=निर्मलता, बन्धका अभाव। समाधि अभ्यास वाले पुरुष को उस समाधि की वासना के यानी संस्कारों के बल से व्युत्थान दशा में इन्द्रियों से व्यवहार करते हुए भी सम्यक् निर्मलता प्राप्त होती है। सो यह "कैसे गमन करता है" इस प्रश्न का उत्तर है। आगे भी बहुत श्लोकों द्वारा स्थित प्रज्ञ का विस्तार पूर्वक कथन किया है।

शंकाः—तत्वज्ञान की स्थिरता की उत्पत्ति से पहले भी तो साधन रूप से राग द्वेषादि का अभाव आवश्यक था (अब क्या विशेषता हुई)।

समाधानः—ठीक है, तब विशेषता भी है और वह श्रेय मार्ग कार ने दिखलाई है।

"ज्ञान की स्थिरता से पहले जो गुण प्रयत्न से संपादन करने योग्य साधन रूप थे, वे अब फिर स्वभाव से ही लक्षण रूप होकर स्थित प्रज्ञ में स्थित होते हैं।" आत्मा के संबन्ध से स्थिति वाली सत्य आत्मा के ज्ञान के

सामर्थ्य से भेद की प्रतीति के अभाव वाली इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं।"

भगवद्भक्त के लक्षण बारहवें श्लोक अध्याय में श्री भगवान ने कहे हैं:- "सर्व प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्र भाव रखने वाला और दयालु भी, ममता रहित, अहंकार रहित, सुख दुःख में समान, सहन शील, संतुष्ट, निरन्तर योगी, यत्न शील, दृढ़ निश्चय वाला, मुझ में मन बुद्धि को अर्पण करने वाला, जो मेरा भक्त है, वह मुझ को प्रिय है।" ईश्वरार्पित मन होने से, क्योंकि समाहित पुरुषको, अन्य के चिन्तन का अभाव है, और व्युत्थान को प्राप्त हुवे को भी अपने को उदासीन समझने के हर्ष विषाद का अभाव है, इस लिये सुख दुःख में समान भावना है, ऐसा ही जो हम द्वन्द को आगे कहेंगे उनके विषय में भी समझ लेना। "जिस पुरुष से लोक उद्विग्न नहीं होता है, और जो लोक से क्षुभित नहीं होता है जो पुरुष हर्ष, ईर्षा, भय और उद्वेग से मुक्त है वह मेरा प्यारा है। जो अपेक्षा रहित है, पवित्र है, चतुर है, असंग है, वेदना खेद से रहित है (यानी उनकी परवाह नहीं करता है) सर्व आरम्भ का परित्यागी है, वह मेरा भक्त है मुझे प्रिय है। जो हर्षित नहीं होता है न द्वेष करता है, न शोक करता है न इच्छा करता है, शुभ अशुभ का परित्यागी है, जो भक्तिमान है, वह मुझे प्रिय है, शत्रु और मित्र में समान तथा मान अपमान में समान शीत उष्ण सुख दुःख में समान, पक्ष से रहित है। निन्दा स्तुति में एक रस, मौनी अर्थात् ध्यान शील, जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट नियत निवास स्थान न रखने वाला अथवा गृह के ममता अभिमान से रहित स्थिर बुद्धि भक्तिमान नर मुझे प्रिय है।"

इसमें भी पूर्व की न्याई विशेषता वार्तिकार ने दर्शाई है:—

"आत्मज्ञान जिस पुरुष को उत्पन्न होगया, उसके अद्वेष्टापना इत्यादि गुण बिना यत्न के ही होते हैं साधन रूप नहीं होते हैं। गुणातीत के लक्षण चौदहवें अध्याय में कहे हैं:—

"किन लक्षणों से इन गुणों से अतीत पुरुष जाना जाता है, उसका क्या आचार होता है, और वह इन तीनों गुणों को कैसे पार कर जाता है।

तीन गुण होते हैं—सत, रज, और तम। उनके परिणाम विशेष से, सब संसार चल रहा है, इसलिये गुणातीत होना असंसारी होना है। यही जीवन्मुक्त होना भी है। दूसरों के प्रति ऐसे गुणातीत भाव के बोध कराने वाले चिन्ह लिंग हैं। आचार नाम आचरण का है यानी उस गुणातीत पुरुष के मन के संचार का प्रकार कैसे है, यह साधन के प्रकार के विषय में प्रश्न है।

"श्री भगवान ने कहाः—हे पाण्डव! जो विद्वान् प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रति उनके सम्यक् प्रवृत्त होने पर द्वेष नहीं करता है, और निवृत्त हुवों की इच्छा नहीं करता है। जो पुरुष उदासीनवत् स्थित हुआ गुणों से चलायमान नहीं होता है, गुण वर्तते हैं, इस प्रकार ही होता है ऐसे समझ कर जो स्थित रहता है, चेष्टा नहीं करता है। सुख दुःख में समान स्वरूप में स्थित मिट्टी के ढेले, पत्थर के टुकड़े और स्वर्ण में सम, शुभ अशुभ को एक समान मानने वाला अपनी निन्दा स्तुति में समान (ऐसा वह) धीर पुरुष होता है। जो मान अपमान में सम है अर्थात् चित्त से निर्विकार है, मित्र शत्रु के पक्ष में तुल्य है, सर्व आरम्भ का परित्यागी है, वह गुणातीत कहलाता है। और जो पुरुष अन्य अनात्मा के व्यभिचार से रहित होने वाली, यानी अनन्य भक्ति योग से, मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को सम्यक् पार करके ब्रह्म प्राप्ति का अधिकारी होता है।"

प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, यह सत्त्व, रज, और तमोगुण हैं। वे जाग्रत और स्वप्न अवस्था में कार्य करते हैं। सुषुप्ति समाधि और शून्य चित्त की वृत्ति रूप अवस्थाओं में, निवृत्त हो जाते हैं। प्रवृत्ति भी दो प्रकार की होती है एक तो अनुसारी और दूसरी विरोधी। उन दोनों में से विरोधी यानी प्रतिकूल प्रवृत्ति से जाग्रत अवस्था में मूढ़ पुरुष द्वेष करता है। अनुसारी प्रवृत्ति की आकांक्षा करता है। गुणातीत पुरुष के तो अनुसारी और विरोधी अध्यास

का अभाव होने से, द्वेष आकांक्षा नहीं होते हैं। जिस प्रकार दो कलह करने वालों को देखने वाला कोई तटस्थ पुरुष आप तो केवल अलग रहता है। उनके जय पराजय में तो इधर उधर नहीं चलायमान होता है इसी प्रकार गुणातीत विवेकी आप पृथक उदासीन रहता है। गुण अपने कार्यों में वर्तते हैं, मैं तो नहीं (वर्तता हूं) विवेक से ऐसा होना, उदासीनता है। मैं करता हूं, इस अध्यास का नाम चलायमान होना है, वह उसके नहीं होता है। सो यह "कैसा आचार होता है" इस प्रश्न का उत्तर हुआ। जो सुख दुःखादि में समता रूपी लक्षण है, वह अनन्य भक्ति सहित, ज्ञान ध्यान के अभ्यास के द्वारा परमात्म सेवा है, यह गुणातीत होने का साधन है। ब्राह्मण के लक्षण व्यासादिकों ने वर्णन किये हैं:—

"ऊपर का वस्त्र भी ओढ़ने को जिसके न होवे, विना बिछौने के सोने वाला, भुजा रूप तकिये वाला, ऐसा जो शान्त पुरुष है उसको देवता गण ब्राह्मण जानते हैं।"

ब्राह्मण शब्द ब्रह्मवेत्ता का वाचक है, यानी ब्रह्मज्ञानी का नाम है, यह श्रुति ने वर्णन किया है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को ही विद्वत्सन्यास का अधिकार है। "यथा जात रूप धारण करने वाला, जो वस्त्र को नहीं पहनता है वह परम हंस है।" इत्यादि श्रुति द्वारा परिग्रह रहित की मुख्यता का कथन होने से ऊपर के वस्त्र का अभाव उसके लिए ठीक ही है।

"जो कुछ मिला उससे शरीर को ढकने वाला, जो कुछ मिले उसे खा लेने वाला, जहां कहीं सो जाने वाला, ऐसा जो हो उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।"

देह निर्वाह के लिये भोजन,वस्त्र और सोने के स्थान की आवश्यकता होते हुए भी शयनादि के विषय में होने वाले गुण, दोष उसको नहीं उत्पन्न होते हैं। पेट भरना, पोषणादि रूप, निर्वाह समान होने से निष्प्रयोजन, गुण दोष विचार, चित्त का दोष ही है, इसीलिये भागवत में कहा है:—

"गुण और दोष के लक्षण का बहुत वर्णन करने से क्या लाभ है, गुण दोष की दृष्टि दोष रूप है, गुण तो दोनों को पृथक छोड़ कर है।" कन्था, कौपीन, वस्त्र वाला, दण्डधारी, ध्यान परायण पुरुष, जो अकेला रमण करता है, उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।"

ब्रह्म के उपदेशादि से प्राणियों पर उपकार करने की इच्छा से श्रेष्ठता जतलाकर श्रद्धा उत्पन्न कराने को दण्ड कौपीनादि लिंग यानी चिन्ह धारण करे।

"कौपीन, दण्ड और वस्त्र स्वशरीर के उपभोग के लिए और लोकोपकार के लिये ग्रहण करे" यह श्रुति प्रमाण है। अनुग्रह की इच्छा से भी उसके गृह व्यवहारादिक की वार्ता को न करे किन्तु ध्यान परायण रहे। "उस एक ही आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ो" यह श्रुति प्रमाण है।

"धीर ब्राह्मण उस परमात्माको ही साक्षात्कार करके आत्म ज्ञान निष्ठा को धारण करे, बहुत शब्दों का चिन्तन भाषण न करे क्योंकि वह मन, वाणी को परिश्रम देने वाला है।" यह श्रुति भी प्रमाण है। ब्रह्मोपदेश तो अन्य वाणी नहीं है इसलिये विरोधी नहीं है। वह ध्यान भी एकाकी होने से निर्विघ्न होता है। इसीलिये अन्य स्मृति में कहा है:—

"एकला भिक्षु ठीक है, दो को ही जोड़ा कह दिया है, तीन का समुदाय ग्राम रूप कहा और इससे अधिक तो नगर हो जाता है।" नगर नहीं बनाना चाहिये, न ग्राम और न जोड़ा भी, क्योंकि उनमें ग्राम वार्ता होगी।" और परस्पर भिक्षा की वार्ता होगी इति।

"समीपता से स्नेह, परनिन्दा और मत्सर यानी ईर्षा होने लगते हैं। आशीर्वाद न देकर, आरंभ रहित होकर, नमस्कार स्तुति से रहित होकर जो अक्षीण यानी दीनता रहित है और जिसके कर्म क्षीण हो चुके हैं उसको देवतागण, ब्राह्मण जानते हैं।"

नमस्कार करने वाले श्रेष्ठ संसारी पुरुषों के प्रति आशीर्वाद का प्रयोग होता है। जिसको जो आवश्यकता है उसके पूर्ति उसको बढ़ती की प्रार्थना आशी है। सो तो पुरुषों की भिन्न २ रुचि होने से उनकी अभिलाषा जानने में संलग्न चित्त वाले की लोक वासना बढ़ जाती है और वह ज्ञान की विरोधी है। यही अन्य स्मृति में भी कहा है:-

"पुरुष को लोक वासना से शास्त्र वासना से भी और देह वासना से ज्ञान यथावत् उत्पन्न ही नहीं होता है।"

और यह विरोध आरम्भ नमस्कारादिक में भी जान लेना। आरम्भ, स्वार्थ अथवा परोपकारार्थ गृह क्षेत्रादिक के संपादन का प्रयत्न है। वे आशीर्वाद और आरंभ दोनों मुक्त पुरुष ने त्याग देना चाहिये। आशीर्वाद के अभाव से प्रणाम करने वाले पुरुषों को खेद होगा यह शंका नहीं करना। लोक वासना और खेद दोनों को निवृत्त करने के वास्ते संपूर्ण आशीर्वाद का प्रतिनिधि (यानी बदले में होने से) नारायण शब्द का प्रयोग है आरंभ तो सब ही बुरा है इस में स्मृति प्रमाण है।

"सर्व आरंभ इस प्रकार दोष से ढके हुए हैं, जैसे धूम से अग्नि" नमस्कार भी विविदिषा सन्यासी के प्रति कहा है:—

"जो पुराना सन्यासी हो, यदि धर्म से समान ही हो तो उसको प्रणाम करना चाहिए अन्य को कदाचित नहीं।"

नमस्कार में पहले के सन्यास और धर्म तुल्यता के विचार में, चित्त विक्षिप्त होता है। इसी वास्ते नमस्कार मात्र के लिए ही बहुत से सन्यासी कलह करते हुए उपलब्ध होते हैं। उस कलह में निमित्त को वार्तिककार ने दर्शाया है:—

"प्रमादी, बाह्य मुखवृत्ति वाले चुगल और कलह में विलास मानने वाले सन्यासी भी देखने में आते हैं, जिनके दैवयोग से हृदय दूषित होगये हैं।"

मुक्त के लिए किसी को नमस्कार का अभाव भगवत्पादाचार्य ने दिखाया है:—यदि नामादि से परे स्वराज्य पद में स्थित हो, तब आत्मज्ञानी पुरुष किस को प्रणाम करे तब कर्म से कुछ कर्तव्यता नहीं है।" चित्त की मलिनता के हेतु नमस्कार के प्रतिषेध होने पर भी सर्व में समता की बुद्धि से जो नमस्कार है, वह चित्त की निर्मलता का हेतु है अंगीकार करने योग्य है, इसमें स्मृति प्रमाण है:—

"ईश्वर भगवान जीवकला रूप से प्रविष्ट है, अश्व चाण्डाल गो और खर को पृथ्वी पर साष्टांग प्रणाम करे।"

मनुष्य के विषय में स्तुति का निषेध किया है, ईश्वर के विषय में नहीं। इसमें बृहस्पति की स्मृति प्रमाण है:—

"जिस प्रकार कोई धन की इच्छा से, धनवान की आदरपूर्वक स्तुति करता है, इसी प्रकार यदि विश्व के कर्ता की स्तुति करे, तो कौन मनुष्य बन्धन से न मुक्त हो जावे।" इति ॥

अक्षीणता का अर्थ अदीनता है इसीलिए स्मृति प्रमाण है:—"क्वचित् समय समय पर भोजन न मिले तो दुःख न माने और मिले तो धीरज वाला मनुष्य हर्षित न हो क्योंकि मिलना न मिलना दोनों प्रारब्ध के आधीन हैं।"

क्षीण कर्म होना, विधि निषेध के आधीन न होना है। "जो तीनों गुणों से अतीत हो ऐसे मार्ग में विचरने वालों को क्या विधि है और क्या निषेध है" यह स्मृति में कहा है। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान ने भी कहा है:—

"हे अर्जुन! वेद त्रिगुणात्मक संसार को विषय करने वाले हैं, तू तीनों गुणों से रहित हो जा, निर्द्वन्द्व हो, नित्य सत्व परमात्मा में स्थित हो, योग-क्षेम से रहित हो और आत्मवान यानी पुरुषार्थी हो।"

नारद ने कहाः–"निरन्तर विष्णु का स्मरण करना चाहिये कभी भी भूलना न चाहिये, सर्व विधि और निषेध इन दोनों के (यानी विष्णु स्मरण रूप विधि के तथा अविस्मरण रूप निषेध के) दास हैं (अर्थात् इन के आधीन वा अन्तर्गत हैं)।"

"जो पुरुष जन समूह से इस प्रकार भय भीत होता है मानो सर्प से और नरक की न्याईं सन्मान से डरता है, तथा जो स्त्रियों से ऐसे डरता है मानों मृतक शरीर से उस पुरुष को देवता गण ब्राह्मण जानते हैं।"

उन भिक्षुकों में राज वार्तादिक होवेंगी यह (आक्षेप युक्त) कथन किया है, इस से जन समूह से डरना उचित है सन्मान आसक्ति का कारण है इस लिये पुरुषार्थ का विरोधी होने से नरक की न्याईं त्याज्य-रूप है। इसी लिये स्मृति प्रमाण हैः–

"असत्कार से तप बढ़ता है सन्मान से तप का नाश होता है अर्चन पूजन किया हुआ विप्र दूध दुही हुई गौ की न्याईं निःसार होजाता है" इसी अभिप्राय को लेकर कि अपमान स्वीकार करने योग्य है स्मृति में कहा हैः–

"योगी सत्पुरुषों के धर्मों को दूषित न करता हुआ ऐसा आचरण करे जिससे लोग उसका अपमान करें संगत में न जावें" स्त्रियों में दो प्रकार के दोष होते हैं, एक तो स्त्री निषिद्ध रूप है (मना किया है) दूसरे निन्दा और ग्लानी का विषय है। इन दोनों दोषों में निषेध तो कदाचित् राग से प्रारब्ध के बल से उलंघन कर दिया जाता है उसी अभिप्राय से यह स्मृति प्रमाण हैः–

"माता, बहन और पुत्री के साथ एक शय्या पर (अथवा पाठान्तर में एकान्त समय) न बैठे इन्द्रियों का समुदाय बलवान है, विद्वान को भी खींच लेता है।" इसी प्रकार स्मृति ने निन्दा वा ग्लानी भी दिखाई हैः–

"स्त्रियों का अवाच्य देश बहते नासूर के समान होने पर भी मन के भ्रम भेद होने के कारण बहुधा लोग ठगे जाते हैं।"

"चर्म का टुकड़ा दो भागों में किया हुआ अपान वायु के दुर्गन्ध से दूषित है जो नर उस में रमण करते हैं, वे कैसे कृमि के तुल्य नहीं है" इस से प्रतिषेध और जुगुप्सा दोनों कथन की इच्छा से यहां मृतक शरीर (यानी मुरदे) का दृष्टांत कहा है।

"जिस अकेले को सर्वदा पूर्ण चिदाकाश भान होता है जिसको जन समूह भय दायक शून्य स्थान है उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं।"

संसारियों को अकेले रहना भय आलस्य आदिक का हेतु होने से वर्जित है। जन सम्बन्ध भी भयदायक न होवें, इसलिये स्वीकार करना चाहिये। योगी उससे विपरीत (उल्टा) है, एकाकी होने पर निर्विघ्न ध्यान की अनुवृत्ति होती है, यानी पुनः पुनः ध्यान होता रहता है, और परिपूर्ण परमानन्द रूप से सर्व चिदाकाश पूर्ण रूप भान होता है इसलिये भय आलस्य शोक मोहादिक नहीं होते हैं।

"जिस ज्ञान की अवस्था में, ज्ञानवान को, सर्व भूत जात (जड़ चेतनात्मक प्राणी मात्र) आत्मा ही, साक्षात्कार होता है, उस दशा में (गुरु शास्त्रानुसार) एकत्वदर्शी को क्या मोह है और क्या शोक है।"

जनाकीर्णम्=जो जन सहित स्थान है। सो राज वार्तादिक के कारण ध्यान का विरोधी होने से, आत्म साक्षात्कार से रहित हुआ शून्य स्थानवत्, चित्त को खेदवान करता है क्योंकि जगत मिथ्या है और आत्मा परिपूर्ण है।

अति वर्णाश्रमी का सूत संहिता के मुक्ति खण्ड के पांचवें अध्याय में परमेश्वर ने वर्णन किया है।

"ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक तथा वर्णाश्रम के पारगामी वे भी पूर्वक्रम से श्रेष्ठ और पण्डित होते हैं (यानी ब्रह्मचारी से गृहस्थ, उससे वानप्रस्थ, उससे अधिक भिक्षू और सर्व से अधिक अति वर्णाश्रमी श्रेष्ठ और ज्ञानी होते हैं।)"

अति वर्णाश्रमी सर्व अधिकारियों का गुरु कहा गया है, वह किसी का भी शिष्य नहीं होता है, जैसा हे पुरुषोत्तम मैं सदा-शिव हूँ।

अति वर्णाश्रमी साक्षात् गुरु जनों का गुरु कहलाता है, इस लोक में कोई उसके समान नहीं, न अधिक ही है, इसमें संशय नहीं है।

जो शरीर इन्द्रिय आदिक से पृथक् सब के साक्षी पारमार्थिक विज्ञान, सुखात्मा, स्वयं प्रकाश परम तत्व को जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है। हे केशव जो पुरुष वेदान्त के महा वाक्य के श्रवण से ही आत्मा रूप परमात्मा को अपरोक्ष साक्षात्कार करता है, वह अति वर्णाश्रमी होता है।

जो तीनों अवस्था से रहित अवस्थाओं के साक्षी को सदा महादेव रूप जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

वर्णाश्रमादिक देह में माया से परि कल्पित हैं, मुक्त बोध रूप आत्मा के वे वर्णाश्रमादिक कदाचित नहीं हैं, ऐसा जो उपनिषदों से जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

आदित्य की समीपता से (संपूर्ण) जगत का आप ही व्यवहार होता है इसी प्रकार मेरे सहयोग से संपूर्ण जगत् चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार जो पुरुष वेदान्तों से जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

सुवर्ण के हार, बाजूबन्द, कड़े, गण्डे तावीजादिक एक सुवर्ण मात्र में कल्पित हैं इसी प्रकार जन्मादिक, मुक्त में माया से कल्पित हैं। इस प्रकार जो मनुष्य उपनिषदों द्वारा जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

सीपी में चांदी जिस प्रकार माया से कल्पित होती है, इसी प्रकार मायामय महत्तत्वादिक जगत् मुझ चैतन्य आत्मा में ही कल्पित है। इस प्रकार जो पुरुष, उपनिषदों द्वारा जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

चण्डाल के देह में, पश्वादि शरीर में, ब्रह्मा के शरीर में, और हे पुरुषोत्तम! उन अन्य व्यक्तियों में भी जो परस्पर विलक्षण ऊँच नीच भाव के क्रम से स्थित हैं। आकाशवत् सर्वदा व्याप्त सर्व सम्बन्ध से रहित, एक रूप महादेव स्थित है, सोई परम अमृत रूप मैं हूँ। इस प्रकार जो उपनिषदों द्वारा जानता है, सो अति वर्णाश्रमी होता है।

जिसके दिशाओं का भ्रम विनष्ट होगया है उसके भी, पूर्व भ्रम काल की न्याई दिशा भान होती हैं (सो असत् है) इसी प्रकार अपरोक्ष आत्म ज्ञान से मिथ्या निश्चय किया हुआ जगत् मुझे भास रहा है, वह वस्तुतः नहीं है (एक आत्मा ही है)। इस प्रकार जो उपनिषदों द्वारा जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

जिस प्रकार यह स्वप्न प्रपंच मुझ में माया से विस्तृत है, इसी प्रकार जाग्रत प्रपंच भी मुझमें माया से विस्तृत है। ऐसे जो उपनिषदों द्वारा जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

जिसके वर्णाश्रमाचार स्वात्मदर्शन से गलित होगये, वह सर्व वर्णाश्रमों को उलंघ कर अपने आत्मा में स्थित है। इस प्रकार जो उपनिषदों द्वारा जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

जो पुरुष अपने आश्रम वर्णों को त्याग कर स्थित है, उसको सर्व वेद के अर्थ के ज्ञाता पुरुष, अति वर्णाश्रमी कहते हैं।

न देह है, न इन्द्रिय हैं, न प्राण हैं, न मन बुद्धि अहंकार हैं, न चित्त है न माया ही है और न व्योमादिक जगत है।

न कर्ता है, न भोक्ता ही है, ऐसे ही भोजन अथवा भोगक्रिया का कराने वाला भी नहीं है, केवल चैतन्य सत आनंद रूप आत्मा ही यथार्थ है।

जल के हिलने से जिस प्रकार (प्रतिबिंब) में रविका हिलना होता है, इसी प्रकार अहंकार के संसार स्फुरण से आत्मा का संसार है इस लिये हे केशव! अन्य अहंकारगत वर्ण आश्रम भी भ्रान्ति से ही आत्मा में मान लिये गये हैं, वे आत्म ज्ञानी को नहीं होते हैं। आत्म विज्ञानियों को न विधि है न निषेध है, न त्याग ग्रहण की कल्पना होती है, इसी प्रकार, हे जनार्दन! उसके अन्य व्यवहार भी नहीं है।

हे कमल नेत्र! मैं आत्म विज्ञानियों की निष्ठा को जानता हूं, सर्वदा माया से मोहित मनुष्य जानते ही नहीं हैं।

हे केशव! ब्रह्मविज्ञानियों की यह निष्ठा, मांस के नेत्रों से नहीं, देखी जा सकती है वह विद्वानों के स्वतः सिद्ध ही है।

जिस स्वरूप में जन सदा सोते हैं उसमें संयमी पुरुष जाग्रत है, जिस व्यवहार में वे अविद्वान् जाग्रत हैं, हे केशव! उस में विद्वान् सुषुप्त हैं। इस प्रकार आत्माको, द्वन्द्व रहित निर्विकार निरंजन नित्यशुद्ध निराभास चिन्मात्र परम अमृत जो पुरुष उपनिषदों द्वारा जानता है और अपने अनुभव से निश्चय किये हुए है वह ही अति वर्णाश्रमी कथन किया गया है। वह ही उत्तम गुरु है।

सो इस प्रकार "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादिक श्रुति प्रमाण से जीवन्मुक्त स्थित प्रज्ञ भगवद्भक्त गुणातीत ब्राह्मण अतिवर्णाश्रमी इत्यादिक के प्रतिपादन करने वाले स्मृति वाक्य जीवन्मुक्ति के विद्यमान होने में प्रमाण हैं, यह निर्णय हुआ॥ इत्योम्॥

॥ इति जीवन्मुक्ति प्रमाण प्रकरण॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणेनमः ॥

अथ द्वितीय वासना क्षय प्रकरण।

अब हम जीवन्मुक्ति के साधनों को निरूपण करते हैं:—तत्व ज्ञान, मनो नाश और वासना क्षय उस के साधन हैं। इसी वास्ते वसिष्ठ रामायण के उपशम प्रकरण के अन्त में "जीवन्मुक्त शरीराणाम्" इस प्रस्ताव में वसिष्ठ ने कहा है:—

"हे महामते! यह वासना क्षय विज्ञान और मनोनाश एक समान काल में चिरपर्यन्त यानी दीर्घकाल तक अभ्यास किये हुए फलदायक होते हैं।" अन्वय को कह कर व्यतिरेक को कहते हैं (यानी साधन करनेकी विधि तथा फल को कह कर अब साधन न करने में असफलता को कहते हैं):—

यह तीनों साधन बारम्बार एक साथ जब तक न अभ्यास किये जावें तब तक सौ वर्ष तक भी पद की सम्यक् प्राप्ति नहीं होगी।"

एक साथ अभ्यास न होने में हानि को कहते हैं:—

एक एक करके, यह साधन यदि पूर्णतया दीर्घ काल तक भी सेवन किये जावे तो खंडित मन्त्रों की न्याईं सफलता को नहीं देते हैं॥"

जिस प्रकार सन्ध्या वन्दन में मार्जन के साथ विनियुक्त "आपोहिष्ठा" इत्यादिक तीनों ऋचाओं में से प्रतिदिन एक एक ऋचा के पाठ करने से शास्त्रीय अनुष्ठान नहीं सिद्ध होता है। और जिस प्रकार षट् अंगवाले मन्त्रों से एक एक मन्त्र से अनुष्ठान की सिद्धि नहीं होती है जिस प्रकार लोक में शाक दाल चावल आदिक में से एक एक वस्तु से रसोई नहीं सिद्ध होती है तद्वत्। जीवन्मुक्ति के दीर्घकाल के अभ्यास के प्रयोजन को कहते हैं:—

"इन तीनों साधनों के दीर्घ काल के अभ्यास से (पुष्ट) जो हृदय की दृढ़ ग्रंथियां हैं, वे निःशंक ऐसे टूट जाती हैं जैसे घिस के तार (सहज) टूट जाते हैं। उस ही के व्यतिरेक को अर्थात् न करने के परिणाम को कहते हैं:—

"सैकड़ों जन्मों की अभ्यास की हुई जो संसार की दृढ़ता है, हे रामजी! वह दीर्घ काल के अभ्यास योग के बिना क्वचित् नष्ट नहीं होती है।"

केवल एक एक साधन के अभ्यास से फलाभाव ही नहीं होता है किंतु जीवन्मुक्ति का स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता है:—

"तत्त्व ज्ञान, मनोनाश और वासना क्षय भी, एक दूसरे के परस्पर कारण रूप हैं, इसलिये उनकी पृथक् पृथक् स्थिति सफल नहीं होती है। इन तीनों के मध्य में दो दो मिलाकर तीन जोड़े होते हैं, उनमें से मनोनाश और वासना क्षय रूपी जोड़ी में अलग अलग साधनों की परस्पर कारणता को, व्यतिरेक द्वारा कहते हैं (यानी एक के न होने से दूसरा भी साधन नहीं टिक सकता है इस प्रकार कहते हैं)" :—

"जब तक मन विलीन न हो तब तक वासना नाश नहीं होती है, जब तक वासना क्षीण न हो तब तक चित्त नहीं शान्त होता है।" दीपक की ज्वाला की सन्तति की न्याईं वृत्ति की धारा के रूप से अन्तःकरण द्रव्य का परिणाम मननात्मक होने से मन नाम से कहलाता है। उसका नाश होना, प्रसिद्ध वृत्ति रूप परिणाम को त्यागकर निरुद्धाकार परिणाम होना है। और सो पातञ्जल योगशास्त्र के सूत्र में कहा है, "व्युत्थान संस्कार के तिरस्कार और निरोध संस्कार की उत्पत्ति होने पर निरोध क्षण से जो चित्त का सम्बन्ध है सो निरोध परिणाम है" इति। व्युत्थान संस्कारों का तिरस्कार होता है और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। निरोध युक्त क्षण से, चित्त का सम्बन्ध होता है। वह यह मनोनाश है, ऐसा जान लेना। पूर्व अपर विचार के बिना अकस्मात् (एक दम) उत्पन्न हुई क्रोधादि वृत्ति विशेष का कारण, जो चित्तगत

संस्कार है, सो वासना हैं क्योंकि पूर्व पूर्व के अभ्यास से चित्त में वसा हुआ है। और उस वासना का क्षय होना प्रसिद्ध विवेक जन्य शान्ति दान्ति रूप शुद्ध वासनाओं के दृढ़ होने पर बाह्य निमित्त से भी क्रोधादिक का उत्पन्न न होना हैं। उन दोनों मनोनाश और वासना क्षय में से मनोनाश के अभाव होने पर वृत्तियों के उत्पन्न होते रहते कदाचित् बाह्य निमित्त से क्रोधादिक की उत्पत्ति होने से वासना का नाश नहीं होता है। और वासना के नाश न होने पर, ऐसे ही वृत्तियों के उत्पन्न होने से मनोनाश नहीं होता है। तत्त्व ज्ञान और मनोनाश दोनों की परस्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा कहते हैं:—

"जब तक तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता है, तब तक चित्त का निरोध कहां है, जब तक चित्त का निरोध नहीं होता तब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता है।" यह सब आत्मा ही है, प्रतीत होने वाला रूप रसादिक जगत माया का कार्य है यह तो वस्तुतः है ही नहीं ऐसा निश्चय तत्त्व ज्ञान है। उस तत्त्व ज्ञान के उत्पन्न न होने पर रूप रसादिक विषयों के सद्भाव रहने से विषय गोचर चित्त की वृत्तियों का निवारण नहीं हो सकता है। जिस प्रकार यदि ईंधनादिक डालते रहें तो अग्नि की ज्वाला निवृत्त नहीं हो सकती है, तद्वत्। और चित्त के विरुद्ध न होने पर वृत्तियों से ग्रहण होने वाले रूपादिकों के विद्यमान होते "नेह नानास्ति किंचन" इस श्रुति प्रमाण के विषय में "यजमान दर्भ है" इत्यादिक कथन की न्याईं प्रत्यक्ष विरोध की शंका होने से ब्रह्म अद्वितीय है ऐसा पारमार्थिक निश्चय उदय नहीं होता है। वासना क्षय और तत्त्व ज्ञान इन दोनों की परस्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा (यानी एक के हुए बिना दूसरे का अभाव है इस कथन द्वारा) कहते हैं:—

जब तक वासना नाश न हो तब तक तत्त्व साक्षात्कार कहां से हो, जब तक तत्त्व साक्षात्कार न हो तब तक वासना क्षय नहीं होता है। क्रोधादिक की वासना के नष्ट न होने पर शम दमादिक साधन के अभाव से तत्त्व-ज्ञान उदय नहीं होता है। अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व के अज्ञात रहते यानी ब्रह्मज्ञान

हुए बिना क्रोधादि निमित्त वाले (अनात्मा के) सत्यत्व भ्रम के नाश न होने से वासना का नाश नहीं होता है। इस प्रकार कहे हुए तीनों द्वन्द्वों (जोड़ियों) की परस्पर कारणता अन्वय द्वारा हम कहते हैं। मन के नष्ट होने पर संस्कार को जगाने वाले बाह्य निमित्त के प्रतीत न होने से वासना का नाश होता है। और वासना के क्षीण होने पर कारण के अभाव से क्रोधादि वृत्ति के उदय न होने से मन का नाश हो जाता है। सो यह मनोनाश वासना क्षय की जोड़ी है। "परन्तु एकाग्र बुद्धि से साक्षात्कार होता है" इस श्रुति प्रमाण से केवल आत्मा के सन्मुख यानी आत्माकार वृत्ति को ज्ञान की हेतु होने से अन्य सम्पूर्ण वृत्तियों का नाश ज्ञान में कारण है यह ज्ञात होता है। और तत्त्व ज्ञान होने पर मिथ्या जाने हुए जगत में शश शृंगवत् बुद्धि की वृत्ति के अनुदय से और आत्मा का साक्षात्कार हुए पीछे फिर वृत्ति का उपयोग न रहने से ईंधन रहित अग्नि की न्याईं मन का नाश हो जाता है। सो यह मनोनाश तत्त्व ज्ञान की जोड़ी है। तत्त्व ज्ञान क्रोधादिक वासना के नाश का कारण है, इस बात को वार्तिककार कहते हैं:—

जिस प्रकार स्वदेह के अवयवों पर कोप नहीं होता है इसी प्रकार रिपु बन्धु और स्वदेह में बराबर एक आत्मा देखने वाले विवेकी को क्रोध कैसे आ सकता है।

क्रोधादिक की वासना के विनाशक शमादिक साधन ज्ञान के हेतु हैं यह बात प्रसिद्ध होगई। वसिष्ठ जी भी कहते हैं:—

"शमादि गुण ज्ञान से और ज्ञान शमादि गुणों से परस्पर ऐसे बढ़ते हैं जैसे दोनों कमल और तालाब" इति।

सो यह वासना क्षय और तत्त्व ज्ञान दोनों का जोड़ा है, तत्त्व ज्ञानादिक तीनों साधनों के प्राप्त करने के साधन को कहते हैं:—

"हे राघव ! इसलिये पुरुष प्रयत्न द्वारा विवेकी पुरुष ने भोग की इच्छा को दूर से त्यागकर यह तीनों साधन संपादन करना चाहिये।" पुरुषार्थ नाम यत्न का है कि किसी भी उपाय द्वारा अवश्य साधन संपादन करूंगा ऐसा आग्रह होना। प्रथक् प्रथक् करके निश्चय करने का नाम विवेक है। तत्व ज्ञान प्राप्ति का साधन श्रवणादिक है, मनोनाश का साधन योग है। वासना क्षय का उपाय विरोधी वासना का उत्पन्न करना है। भोगेच्छा स्वल्प भी अंगीकार करलें तो "जैसे हवि से अग्नि बढ़ती है, इसी प्रकार भोगेच्छा अधिक अधिक बढ़ती है" इस न्याय से वृद्धि का निवारण न हो सकेगा इस हेतु से "दूर से त्याग कर" यह बात कही।

शंकाः—पहिले यह व्यवस्था वर्णन करदी है कि विविदिषा सन्यास का फल तत्वज्ञान है और विद्वत्सन्यास का फल जीवन्मुक्ति है ऐसा होने पर तो प्रथम तत्व ज्ञान को संपादन करके, पीछे विद्वत्सन्यास करके जीवते हुए ही अपने बन्ध रूप वासना का और मन की वृत्तियोंका दोनों का विनाश संपादन करने योग्य है ऐसा प्रतीत होता है। यहां तो तत्वज्ञानादिकों का एक काल में ही अभ्यास विधान किया है, इस लिये पूर्व उत्तर का विरोध है, इस शंका का यह समाधान है:—

समाधानः—यह दोष नहीं है मुख्य और गौण भाव से व्यवस्था बन सकती है। विविदिषा सन्यासी के लिये तत्वज्ञान मुख्य है मनोनाश वासना क्षय गौण रूप हैं। विद्वत्सन्यासी के लिये तो उस से उल्टा है इसलिये साथ २ अभ्यास दोनों स्थानों में भी विरुद्ध नहीं है। तत्व ज्ञान की उत्पति मात्र से कृतार्थ पुरुष को पीछे के अभ्यास के श्रम से क्या प्रयोजन है यह भी शंका न करना जीवन्मुक्ति के प्रयोजन के निरूपण द्वारा इस शंका की निवृत्ति हो जाती है। यह तात्पर्य है कि बिना तत्व ज्ञान के पश्चात् मनोनाश वासनाक्षय के अभ्यास के जीवन्मुक्ति और विश्रान्ति रूप फल नहीं प्राप्त होसकते हैं इस लिये उन का अभ्यास भी आवश्यक है।

शंकाः—विद्वत्सन्यासी के लिये ज्ञान के साधन श्रवणादिक का अनुष्ठान तो निष्फल है और ज्ञानको स्वरूप से यानी स्वतः ही उत्पन्न करना अथवा विपरीत करना असंभव है इस लिये गौण रूप से भी ज्ञान होने के पीछे विद्वत्सन्यास करके ज्ञान का अभ्यास कैसे हो ऐसी शंका होने पर।

समाधानः—किसी द्वार से भी पुनः पुनः तत्वका चिन्तन करना चाहिये हम तो यह कहते हैं। वैसा अभ्यास लीला के उपाख्यान में दर्शाया है:—

"उस का चिन्तन करना उस का कथन करना परस्पर उस का ज्ञान कराना और उस एक के ही परायण रहना इसको प्रबुद्ध जन ज्ञानाभ्यास कहते हैं।

आदि से ही सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई दृश्य का सदा से ही अभाव है, यह जगत और परिछिन्न अहंकार भी नहीं है इस को परम ज्ञानका अभ्यास कहते हैं। इति

मनोनाश और वासना क्षय के अभ्यास भी वहीं दिखाये हैं:—"ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव निश्चय के लिये जो योग द्वारा शास्त्र से यत्न करते हैं वे वहां अभ्यासी होकर स्थित हैं" ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का मिथ्यात्व निश्चय अभाव संपत्ति है स्वरूप से भी अप्रतीती होनी अत्यन्ताभाव संपत्ति है। सो यह मनोनाश का अभ्यास है।

"दृश्य असंभव है इस बोध से रागद्वेषादिक के निवृत्त होने पर जो यह नवीन आत्म रति उदय हो सो ब्रह्माभ्यास कहलाती है।" इति सो यह वासना क्षय का अभ्यास है।

शंकाः—वे यह तीनों अभ्यास, बराबर प्रतीत होते हैं उन की मुख्यता और गौणता का विवेक होना असंभव है। ऐसी शंका होने पर।

समाधानः—यह बात नहीं है, प्रयोजनके अनुसार विवेक हो सकता है। मुमुक्षु पुरुष के जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रयोजन हैं। इसी लिये

"विमुक्तश्च विमुच्यते" यह श्रुति है तहां, दैव संपदा मोक्ष है, असुर संपदा बन्ध है, और यह सोलहवें अध्याय में भगवान ने भी कहा है:—

"दैवी संपदा मोक्ष के लिये और असुरी बन्धनके लिये मानी गई है। उन सम्पदाओं को भी वहीं कहा है:—

भय न होना अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि ज्ञान और योग में निष्ठा दान इन्द्रियों का निरोध श्रौत स्मार्तादि द्वादश प्रकार का यज्ञ कायक वाचक मानसिक तीनों प्रकार का तप नित्य नियम से संहिता उपनिषद गीतादि शास्त्रों का अध्ययन तथा पुनरावृत्ति और चित्त की निष्कपटता। मन वाणी शरीर से किसी को पीड़ा न देना हिंसा रहित यथा शास्त्र निष्कपट वाणी का सचा व्यापार क्रोध का उदय न होना फल का और निषिद्ध कर्म का त्याग सहन शीलता परनिन्ना का अभाव अथवा पर की गोप्य रखने योग्य वार्ताओं व आचरणों का कथन न करना यानी चुगली निन्दा न करना प्राणियों में दया लोभ लालच का न होना वाणी और स्वभाव की कोमलता बुरे निन्दित कार्य्यों से लज्जा शरीरस्व वाणी की चंचलता का न होना।

प्रभाव उत्पन्न करने वाला प्रागल्भ पर अपराध विसर्जन धीरज अन्तर मन की और बाह्य आचार की शुद्धि हृदय में किसी के घात वा हिंसा का भाव उदय न होना अभिमानका न होना हे भारत! यह गुण उस मनुष्य में होते हैं जिसने दैवी सम्पदाके संस्कारोंको अपने साथ लिये हुए जन्म पाया है।

दम्भ यानी बन कर दिखाना पर के तिरस्कार करने का अभिमान मन में धन पुत्र विद्यादिक के मद से श्रेष्ठता का अहंकार क्रोध और वाणी की अथवा स्वभाव की कठोरता तथा अज्ञान हे पार्थ! उस मनुष्य में होते हैं जो असुर स्वभाव वाले दुर्गुणों को साथ लेकर उत्पन्न हुवा है। इति।

और भी अध्याम की परि समाप्ति पर्य्यन्त असुर संपदा का सविस्तार निरूपण किया है। उन में अशास्त्रीय स्वभाव सिद्ध दुर्वासना रूप असुर

सम्पदा का शास्त्रीय पुरुष प्रयत्न से साध्य सद्वासना रूप दैवी संपदा से नाश होने पर जीवन्मुक्ति होती है। वासनाक्षय की न्याईं मनोनाश भी जीवन्मुक्ति का हेतु है यह श्रुति सिद्ध है:—

"मन ही मनुष्यों के बन्ध मोक्ष का कारण है विषयासक्त मन बन्धन के लिये है और निर्विषय मन मुक्ति के लिये कथन किया है। जिस लिये इस के निर्विषय मन की मुक्ति मानी है इस लिये मुमुक्षु ने मन को सदा निर्विषय करना चाहिये।

विषयासक्ति से रहित और हृदय में सम्यक विरुद्ध मन जब उन्मनी भाव को यानी प्रशान्त भाव को प्राप्त होता है तब वह परम पद पाता है।

मन तब तक निरोध करना योग्य है जब तक हृदय में आत्मा में लीन न होजावे यही ज्ञान और ध्यान है शेष मुक्ति का विस्तार है।

बन्ध दो प्रकार का होता है एक तीव्र दूसरा मृदु। उनमें असुर संपदा साक्षात् ही क्लेश का कारण है इसलिये तीव्र बन्धन रूप है। द्वैत मात्र की प्रतीति तो आप क्लेश रूप नहीं भी है परन्तु असुर संपदा का उत्पादक है इसलिये मृदु बन्धन रूप है। उनमें वासना क्षय से तीव्र बन्ध की ही निवृत्ति होती है और मनोनाश से दोनों की निवृत्ति होती है।

शंका:—तब मनोनाश ही बहुत है, (उसी के अभ्यास से सब कार्य सिद्ध हो जावेगा) वासना क्षय तो व्यर्थ ही है।

समाधानः—इस शंका का यह समाधान है कि जो कहते हो यह बात नहीं है। भोग के हेतु प्रबल प्रारब्ध से जब मन का व्युत्थान हो, तब वासना क्षय तीव्र बन्ध के निवारणार्थ होता है। भोग तो मृदु बन्ध से भी हो जाता है। तामस वृत्तियां, तीव्र बन्ध रूप हैं। सात्विक और राजस दोनों प्रकार की वृत्तियां मृदु बन्ध रूप हैं। यही कहा है:—

"दुःखों में उद्वेग से रहित मन और सुख भोगों में स्पृहा से रहित" इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है, (यानी दुःख भोग राजस वृत्ति है, उद्वेग तामस वृत्ति है सुख भोग सात्विक वृत्ति रूप है स्पृहा तामस हैं)।

शंकाः—इस प्रकार है तो मृदु बन्ध तो स्वीकार ही कर लिया तीव्र बन्ध की वासना क्षय द्वारा निवृत्ति होती है इसलिये मनोनाश निष्प्रयोजन है।

समाधानः—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दुर्बल प्रारब्ध से प्राप्त अवश्य होनहार भोगों के ही प्रतीकार के लिये मनोनाश है (प्रबल प्रारब्ध से प्राप्त अवश्य भावी भोगों के लिये मनोनाश नहीं है) वैसे निर्बल प्रारब्ध भोग की ही उपाय से निवृत्ति हो सकती है इसी अभिप्राय को लेकर यह कहते हैं:—

"यदि अवश्य होनहार भोगों को उपाय से विनाश करने की संभावना होती तो बलराम और युधिष्ठिर दुःखों से लिप्त न होते।" सो इस प्रकार जीवन्मुक्ति के प्रति वासना क्षय और मनोनाश दोनों साक्षात् साधन हैं इसलिए उनकी प्रधानता यानी मुख्यता है। तत्त्व ज्ञान तो उन दोनों को उत्पन्न करके अलग हो जाता है इस लिये गौण है तत्त्व ज्ञान वासना क्षय का कारण है यह बात बहुत श्रुतियों में सुनी है:—"ज्ञात्वादेवं सर्व पाशापहानिः" अर्थात् परमात्मा को जान कर सब बन्धनों की निवृत्ति हो जाती है।

"अध्यात्म योग से प्राप्त परमात्मा को अपरोक्ष साक्षात्कार करके धीर पुरुष हर्ष शोक दोनों का परित्याग कर देता है।

"आत्मज्ञानी पुरुष शोक को तर जाता है" "उस बोध के समय एकत्व दर्शी को क्या मोह और क्या शोक है" "परपात्मा को जान कर सर्व बन्धनों से छूट जाता है।"

तत्त्व ज्ञान मनोनाश का कारण है यह भी श्रुति सिद्ध है। ज्ञान दशा के अभिप्राय से यह श्रुति है:—"जिस ज्ञानावस्था में तो सर्व आत्मा ही है ऐसा

ज्ञान हुआ तब किस चक्षुद्वारा किस दृश्य को देखे, किस घ्राण द्वारा किस गन्ध को सूंघे "इत्यादि" गौडपादाचार्य भी कहते हैं:—

"आत्मतत्व के साक्षात्कार से जब संकल्प को नहीं करता है, तब अमन स्वरूपता को प्राप्त होता है, ग्राह्य द्वैत का अभाव होने से, उस आत्मा के ग्रहण की अयोग्यता है।"

जैसे, वासना क्षय और मनोनाश जीवन्मुक्ति के साक्षात् साधन हैं इसी प्रकार तत्वज्ञान विदेह मुक्ति का साक्षात् साधन होने से मुख्य है। "ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, जिससे मुक्त होजाता है"। यह स्मृति प्रमाण है।

आत्मा का केवल भाव कैवल्य है, यानी देहादि से रहित होना। और वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है। क्योंकि सदेहता, अज्ञान कल्पित होने से, केवल ज्ञान से ही निवृत्त होती है। "ज्ञानादेव" इस एवकार से, कर्म का निषेध है। "न कर्म से न प्रजा से" यह श्रुति में कहा है। जो जन तो ज्ञान शास्त्र का अभ्यास न करके, यथा संभव वासना क्षय और मनो नाश का अभ्यास करके सगुण ब्रह्म की उपासना करता है, उसको कैवल्य पद नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उसके लिंग देह की निवृत्ति नहीं होती है। इस लिये एवकार से दोनों का यानी कर्म और सगुण उपासना का निषेध है। "जिस से मुक्त होता है" इसका यह अर्थ है। जिस ज्ञान से प्राप्त केवल भाव से, बने हुए सम्बन्ध से छूट जाता है। बन्ध अनेक प्रकार का है अविद्या ग्रंथि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकाम इच्छा मृत्यु, पुनर्जन्म, इत्यादि शब्दों से तहां तहां व्यवहार किया है। अज्ञान से ही, यह सब बंध हैं, ज्ञान से निवृत्त होते हैं। सोई श्रुति में कहा है:—हे सौम्य, इस बुद्धि रूपी गुहा में स्थित आत्मा को जो अपरोक्ष जानता है, वह इस जीवित अवस्था में ही, (इदन्तारूपी) अविद्या ग्रन्थी को तोड़ देता है। "जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही है" (यानी ब्रह्म ही अपने अज्ञान के वश होकर ज्ञान से अज्ञान

निवृत्ति द्वारा अपने स्वरूप को स्व स्वरूप त्वेव जानता है, अब्रह्म तो ब्रह्मको जानही नहीं सकता है।)

"उस कारण कार्य रूप परमात्मा के साक्षात्कार होने से हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है (यानी मिथ्या अहंकार निवृत्त हो जाता है) सर्व संशयों का छेदन हो जाता है और उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।" "जो परम चिदाकाश बुद्धि रूपी गुहा में स्थित है उसको अपरोक्ष जानता है।" "वह सर्व कामनाओं को एक काल में ही भोग लेता है" (यानी सब विषयानंद ब्रह्मानंद के लेश मात्र होने से, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मानन्द भोगी होने से, सर्व कामना वाले भोगों के सुख का एक साथ ही भोगने वाला है) "उस परमात्मा को ही जान कर मृत्यु को लंघता है यानी पार करता है"।

"जो पुरुष तो विज्ञान वाला होता है, मन को वश में रखने वाला होता है, सदा शुचि है वह ही उस परमात्म पद को प्राप्त होता है जिससे पुनर्जन्म नहीं होता है।"

"जो इस प्रकार जानता है, कि मैं ब्रह्म हूं, वह यह सर्व रूप हो जाता है" इत्यादिक असर्व रूपता यानी परिछिन्नता आदिक बंध के दूर करने वाले वाक्यों को यहां कथन करना योग्य है। सो यह विदेह मुक्ति ज्ञान उत्पत्ति के समकाल ही जान लेनी। क्योंकि ब्रह्म में अविद्या से आरोपित, इन बन्धनों का तो विद्या से विनाश होजाता है, इसलिये पुनः अविद्या जन्म बन्ध का उत्पन्न होना और अनुभव में आना असंभव है। उस इस विदेह मुक्ति की, विद्या समकालीनता को, श्री शंकराचार्य भाष्यकार ने समन्वय सूत्र की व्याख्या में विस्तार से कहदिया है।

"उस परमात्मा के साक्षात्कार से आगे के पाप तो लगते नहीं है, और पूर्व के संचित पापों का विनाश हो जाता है, श्रुति में ऐसा उपदेश है" इसी प्रकार श्रुति में भी कहा है "उसको तब तक ही विदेह कैवल्य में विलंब है

जब तक प्रारब्ध भोगकर शरीर नहीं छूटता है, पीछे सत् परमात्मा को प्राप्त होगा।" इति।

वाक्य वृत्ति में भी कहा है:—"प्रारब्ध कर्म के वेग से, जब जीवन्मुक्त होवे, कुछ काल के पीछे प्रारब्ध कर्म रूपी बंध के नाश होने पर अत्यन्त आनन्द रूप पुनरागमन से रहित विष्णु के कैवल्य परम पद को प्राप्त होता है।" इति॥

श्री व्यास सूत्रकार ने भी कहा है:—भोग द्वारा संचित अगामी से पृथक् प्रारब्ध के पुण्य पाप कर्मों को समाप्त करके मोक्ष को प्राप्त होता है।" इति॥ तर शब्द का अर्थ प्रारब्ध के पुण्य पाप कर्म हैं।

वसिष्ठ ने भी कहा है:—"जीवन्मुक्त पद को त्यागकर स्वदेह के काल के वश होने पर विदेह मुक्ति को ऐसे प्राप्त होता है, जैसे पवन निश्चलता को प्राप्त होती है।" इति॥

(कहीं तो ज्ञान समकाल विदेह मुक्ति का कथन है, कहीं प्रथम जीवन्मुक्ति होकर देहपात के पीछे विदेह मुक्ति का कथन है) यह दोष नहीं है, क्योंकि कथन के आशय के अभेद से दोनों मतों का अभेद है। विदेह मुक्ति के इस कथन से देह शब्द द्वारा सम्पूर्ण देह जात (यानी विश्व मात्र) के कहने की इच्छा से बहुतों ने वर्णन किया है। हम तो भावी देह मात्र के कहने की इच्छा से कहते हैं, क्योंकि उस भावी देह का अनारंभ ही तो ज्ञान से सम्पादन होता है। यह वर्तमान देह तो पहले से ही आरब्ध हो चुका, इस लिये ज्ञान द्वारा भी उसका आरम्भ निवारण नहीं किया जा सकता है। इस देह की निवृत्ति भी ज्ञान का फल नहीं है क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के नाश होने पर अज्ञानियों के भी तो देह की निवृत्ति अवश्य होवेगी।

शंका:—तब वर्तमान लिंग देह की निवृत्ति ही ज्ञान का फल सही, क्योंकि ज्ञान के बिना लिंग देह की निवृत्ति नहीं होती है ऐसा कहने पर

समाधानः—यह बात ठीक नहीं। ज्ञान होने पर ही जीवन्मुक्ति होती है इसलिये वर्तमान लिंग देह की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

शंकाः—ज्ञान कुछ काल प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध भी रहे (यानी विघ्न वश अपना फल देने में असमर्थ भी हों) इस लिये वर्तमानलिंग देह की निवृत्ति न भी हो, परन्तु विघ्नरुकावट दूर होंने पर ज्ञान लिंग देह को निवृत्त करदेगा, ऐसा कहने पर।

समाधानः—यह बात नहीं बनती है, पञ्चपादिकाचार्य ने "क्योंकि ज्ञान अज्ञान का ही निवृत्तक है" यह युक्ति सहित निरूपण कर दिया है।

शंकाः—तब लिंग देह की निवृत्ति का क्या साधन है, ऐसा कहने पर।

समाधानः—सामग्री की निवृत्ति ही साधन है यह हम कहते हैं। क्यों कि कार्य निवृत्ति दो प्रकार से होता है, एकतो विरोधी की विद्यमानता से और दूसरा सामग्री की निवृत्ति से। सो जैसे विरोधी वायु से अथवा, तैल बत्ती सामग्री की निवृत्ति से दीपक की निवृत्ति हो जाती है इसी प्रकार लिंग देह का साक्षात् विरोधी तो हम को दिखाई नहीं देता है, सामग्री, निसन्देह दो प्रकार की होती है एक तो प्रारब्ध कर्म रूप और दूसरी अनारब्ध कर्म रूप यानी वह जिसने भावी देह का आरंभ नहीं किया है किन्तु आरंभ करना है सो इन दोनों से ही, अज्ञानियों का लिंग देह इस लोक परलोक में स्थित रहता है ज्ञानियों के तो अनारब्ध कर्म की ज्ञान से निवृत्ति होती है और प्रारब्ध की भोग से निवृत्ति होती है, तैलवर्ति रहित दीपक की न्याईं सामग्री की निवृत्ति से लिंग देह की निवृत्ति होजाती है इस लिये साक्षात लिंग की निवृत्ति, ज्ञान का फल नहीं है (किन्तु ज्ञान का फल तो अज्ञान की निवृत्ति ही है, पीछे संपूर्ण सामग्री की निवृत्ति से लिंग देह की निवृत्ति हो जाती है।)

शंकाः—इस न्याय से तो, भावी देह का अनारंभ ही ज्ञान का फल है। परन्तु इसमें हम यह पूछते हैं, क्या अनारंभ ही फल है, अथवा सदा के लिये अनारंभ का परिपालन ही फल है। पहली बात तो बनती नहीं है क्योंकि अनारंभ, पूर्व अभाव रूप होने से, अनादि सिद्ध है दूसरा पक्ष भी नहीं बनता है क्योंकि अनारब्ध कर्म रूप सामग्री की निवृत्ति से ही भावी देह के अनारंभ का परिपालन हो सकेगा। और अनारब्ध कर्म रूप सामग्री की निवृत्ति भी ज्ञान का फल नहीं है क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति ही ज्ञान का फल है।

समाधानः—यह दोष नहीं है क्योंकि भावी जन्म का अनारंभ आदिक ज्ञान का फल स्वरूप है, यह बात श्रुति शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है "जिस ज्ञान होने पर फिर जन्म नहीं होता है" इत्यादिक कही हुई श्रुतियां उसमें प्रमाण हैं। और ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक है, इस न्याय से भी विरोध नहीं होता है। अज्ञान के नियत साथी जो अब्रह्मत्वादिक हैं, उनको भी अज्ञान शब्द से पंचपादिकाचार्य ने कहा है ऐसा न मानें तो अनुभव से विरोध होगा क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति की न्याईं अब्रह्मत्वादिक की निवृत्ति भी अनुभव में आती है। इसलिए भावी देह का अभाव रूप विदेह मुक्ति ज्ञान समकाल ही होती है। इसमें याज्ञवल्क्य का वचन श्रवण होता हैः—"इसमें सन्देह नहीं है कि हे जनक! आप अभयको प्राप्त हुए हो।" "निश्चय करके हे मैत्रेयी! इतना ही अमृतत्व है। यह भी कहा। और भी श्रुति प्रमाण है "उसको इस प्रकार जानता हुआ इस जीवित दशा में ही अमर होता है।" इति॥ यदि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसकी फल स्वरूप विदेह मुक्ति तब न हो तो कालान्तर में यानी फिर कभी हो जावेगी।

शंकाः—तब तो अग्निहोत्रादिक कर्म की न्याईं ज्ञान जन्य संस्कारों की कुछ कल्पना करनी होगी, और इसी प्रकार ज्ञान शास्त्र, कर्म शास्त्र के ही भीतर आ जावेगा इसका उत्तर कहते हैंः—

समाधानः—मन्त्रादिक से सामर्थ्य निरोध की हुई अग्नि की न्याईं, प्रारब्ध से प्रतिबद्ध ज्ञान कालान्तर में विदेह मुक्ति को देगा।

शंकाः—यह बात नहीं बनती ज्ञान सम काल मुक्ति मानने में कुछ विरोध नहीं है। क्योंकि हमको इष्ट भावी देह का अत्यन्त अभाव रूप विदेह मुक्ति वर्तमान देह मात्र के स्थापक प्रारब्ध से विरुद्ध नहीं है जिस से ज्ञान होने में प्रति बंधक होकर विदेह मुक्ति में कालान्तर प्रति बंधक हो, किंच प्रतिबद्ध ज्ञान को क्षणिक होने से कालान्तर में आप अविद्यमान ज्ञान, मुक्ति को कैसे देगा ?

समाधानः—मरण के समय अन्त का आत्म साक्षात्कार रूप ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। ऐसा कहने पर

शंकाः—यह नहीं बनता क्योंकि कोई साधन नहीं है। प्रति बंधक प्रारब्ध की निवृत्ति से ही साथ ही साथ जब गुरु शास्त्र देह इन्द्रिय आदिक की निवृत्ति हो जावेगी तब तेरे लिये ज्ञान का साधन ही क्या रहेगा ?

प्रति शंका—तब "भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः" इस श्रुति का क्या अर्थ होगा। ऐसा कहने पर

समाधानः—प्रारब्ध के समाप्त होने पर निमित्त के अभाव से देह इन्द्रिय आदिक संपूर्ण नैमित्तिक की निवृत्ति होती है। यह अर्थ हुआ।

तब तो आप को इष्ट जो वर्तमान देह के अभाव वाली विदेह मुक्ति है सो देह पात होने से पीछे रहो हम को तो ज्ञान समकाल ही सम्मत है। इसी अभिप्राय से भगवान शेष ने कहा है:-"तीर्थ में अथवा चण्डाल के गृह में नष्ट स्मृति हुआ भी देह को परित्याग करता हुआ ज्ञान समकाल मुक्त पुरुष, हत शोक हुआ कैवल्य भाव को प्राप्त होता है।"

इस लिये विदेह मुक्तिमें साक्षात् साधन जो तत्वज्ञान है उसकी प्रधानता सिद्ध हो गई। वासना क्षय और मनो नाश ज्ञान के साधन होने से दूर के

साधन हैं इस लिये गौण हैं। असुर वासना के क्षय करने वाली दैव वासना ज्ञान का साधन है यह बात श्रुति स्मृति दोनों प्रमाणों से उपलब्ध होती है। "शमवान्, दमयुक्त, उपरति वाला, तितिक्षु समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे" यह श्रुति प्रमाण है । स्मृति प्रमाण भी है:—

"मान का न होना, दंभ यानी दिखावट का न होना, पर घातका मन वाणी शरीर से त्याग, सहन शीलता, निष्कपटता, गुरु सेवा—शुश्रुषा, अंतर बाहर की शुद्धि, स्थिरता, कायमन इन्द्रियों का निरोध। इन्द्रियों के विषयों में वैराग और अहंकार का अभाव भी, जन्म मृत्यु जरा और व्याधि में दुःख और दोषों का देखना यानी वारम्बार चिंतन करना" ममता रूपी राग का न होना पुत्र स्त्री और गृहादिक में अत्यन्त दृढ़ अहंता यानी अपनायत का न होना, कि उनके विनाश से अपना बिनाश मानने लगे और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में सदा एक रस निर्विकार चित्त होना। मुझ में अभेद धारणा से अनन्य भक्ति होनी, एकान्त देश का सेवन, जन समुदाय में रति का न होना। सदा आत्मज्ञान के परायण रहना और तत्वज्ञान का अर्थ जो अ-द्वितीय अखण्ड सत्ता उसको ही देखना यह ज्ञान है, (यानी इन ज्ञान के साधनों से अवश्य ज्ञान होता है इस लिये इनको ज्ञान ही समझो) ऐसा विद्वानों और शास्त्रों ने कहा है, जो इस से विपरीत है वह अज्ञान है।

दूसरे जनमें अहं बुद्धि का होना अभिष्वंग है। जिस से ज्ञान हो इस रीती से वह ज्ञान का साधन ज्ञान ही है यह अर्थ जानना मनोनाश को भी ज्ञान का साधन होना श्रुति स्मृति प्रसिद्ध है। "तब तो ध्यान शील हुआ उस कला रहित (निर्विशेष) परमात्मा को साक्षात्कार करता है"। इति श्रुतिः। "आत्मा के विषय, निरन्तर धारणा से, साक्षात्कार द्वारा, पर-मात्मा को जान कर, धीर पुरुष, हर्ष शोक को त्याग देता है।" यह भी श्रुति प्रमाण है। "अन्तर आत्मा में समाधी से प्राप्त देव यानी परमात्मा को जान कर" यह अर्थ हुआ।

"निद्रा यानी तामस वृत्ति विशेष जिनकी क्षीण होगई ऐसे विनिद्रा अर्थात् निद्राविनिर्मुक्त जन, जिन पुरुषों ने अपने प्राणों को जीत लिया, यानी राजस वृत्तियों के व्यापार से रहित जन, सन्तुष्ट निग्रहीत इन्द्रिय, योगाभ्यासी जन जिस ज्योति (ज्ञान स्वरूप) को साक्षात्कार करते हैं उस विज्ञानात्मा को नमस्कार है" यह स्मृति प्रमाण है।

सो इस प्रकार तत्वज्ञानादिक तीनों साधनों की, विदेह मुक्ति और जीवन्मुक्ति के आधीन गौणता का और मुख्य भावका निर्णय सिद्ध होगया।

शंकाः—विविदिषं सन्यास ने जो इन तीनों साधनों का संपादन किया तो क्या विद्वत्सन्यास से पीछे इन साधनों की अनुवृत्ति मात्र होती है, अथवा फिर भी उनके संपादन का प्रयत्न आवश्यक है। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं है क्यों कि तत्वज्ञान की न्याईं और दोनों साधन भी तो उस सन्यासी को विना यत्न के ही सिद्ध हैं, इसलिये मुख्यता पूयुक्त आदर के अभाव का प्रसङ्ग है (यानी कौन साधन गौण है कौन प्रधान है यह नहीं कहा जाता इस लिये किसी साधन को प्रधान समझकर आदर नहीं दिया जाता है इस लिये अनुवृत्ति मात्र नहीं बनती) दूसरा पक्ष भी नहीं बनता है क्योंकि दूसरे साधन जो वासना क्षय और मनो नाश हैं उन की न्याईं ज्ञान को भी यत्न सापेक्ष्य मानलें, तो जीवन्मुक्ति के लिये विद्वत्सन्यास के पीछे तत्वज्ञान को गौण समझ कर जो उदासीन रहना है, इसके अभाव का प्रसंग होगा।

समाधानः—यह दोष नहीं है ज्ञान की तो पुनरावृत्ति मात्र करते रहना और वासनाक्षय तथा मनोनाश दोनों की पूयत्न साध्यता होनी इतना ही अंगीकार है। सो यह बात है कि ज्ञान का अधिकारी दो प्रकार का होता है, एक तो वह जिसने उपासना सिद्ध कर रक्खी है और दूसरा वह जिसने उपासना नहीं की। उन दोनों अधिकारियों में उपास्य देव के साक्षात्कार पर्यन्त उपासना को पूर्ण करके, यदि ज्ञान में प्रवृत्त होवे तो वासना क्षय

और मनो नाश को दृढ़तर होने से ज्ञान के पीछे विद्वत्सन्यास जीवन्मुक्ति आप से आप ही सिद्ध होजाते हैं। वैसा ही पुरुष शास्त्र सम्मत ज्ञान का मुख्य अधिकारी है इस लिये उस कृतोपास्ति के प्रति शास्त्रों में तत्वज्ञानादिक तीनों साधनों का एक साथ होना कथन किया है और स्वरूप से जुदा जुदा भी विद्वत्सन्यास और विविदिषा सन्यास मिले हुए से भान होते हैं। आज कल के अधिकारी तो बहुधा अकृतोपासक ही हैं, इच्छा मात्र से, तुरन्त ज्ञान में प्रवृत्त हो जाते हैं। और वासना क्षय मनोनाश तत्काल ही संपादन करते हैं। उतने से श्रवण मनन निदिध्यासन सिद्ध होते हैं। और उनके दृढ़ अभ्यास से अज्ञान संशय विपर्यय की निवृत्ति होने से तत्वज्ञान सम्यक् उदय होता है। उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट हो सकता हो इस में कोई प्रमाण नहीं है दूर हुई अविद्या की पुनः उत्पत्ति में कोई कारण नहीं है, इस लिये उस ज्ञान की शिथिलता नहीं हो सकती है। वासना क्षय और मनोनाश तो दृढ़ अभ्यास न होने से प्रारब्ध वशात् कभी २ दूर भी हो जाते हैं और वात युक्त स्थान के दीपक की न्याईं शीघ्र निवृत्त हो जाते हैं इसी प्रकार वसिष्ठ जी ने कहा है:- "पूर्व तत्वज्ञानादिकों के प्रयत्न की अपेक्षा से यह वासना क्षय विषम साधन माना गया है क्योंकि वासना का त्याग सुमेरु के उखाड़ने से भी कठिन है।" इति॥ अर्जुन ने भी कहा है:—"हे कृष्ण! क्योंकि मन चंचल है व्याकुल करने वाला है अत्यन्त बलवान है मैं उसका निग्रह करना वायु के रोकने की न्याईं कठिन मानता हूं"। इस लिये अबके विद्वत्सन्यासियों के लिये ज्ञान की तो पुनरावृत्ति करना है और वासना क्षय मनोनाश का प्रयत्न से संपादन करना योग्य है यह निर्णय हुआ।

यह वासना क्या है जिसके नाश के लिये प्रयत्न करना उचित है ऐसे कहने पर उसका स्वरूप श्री वसिष्ठ जी कहते हैं:—"दृढ़ भावना से पूर्वा पर विचार से रहित होकर जो पदार्थ का ग्रहण करना है उसका नाम वासना कथन किया है।

हे महाबाहो ! अपनी तीव्र वासना से जो निश्चय किया वैसा ही वह मनुष्य पूर्व स्मृति से रहित होकर शीघ्र बन जाता है।

वासना के आधीन हुआ पुरुष, वैसा स्वरूप होकर ही देखता है, जो यह वस्तु है सो सद्वस्तु ही है इस प्रकार जान कर ही भ्रान्त होता है वासना के वेग के आधीन हुआ, पूर्व स्वरूप को छोड़ देता है विपरीत दर्शी पुरुष, सबको विपरीत देखता है मानो मद ग्रस्त हो। इस वासना में भी स्व स्वदेश के आचार के कुल के धर्म के तथा भाषा के भेद और उनके प्रति स्तुति निंदा में प्राणियों का हठ साधारण से उदाहरण है अधिक भेद तो यहां न कह कर आगे कहेंगे। यथोक्त वासना के अभिप्राय से बृहदारण्यक उपनिषद में श्रवण किया है:–"वह जैसी (इच्छा) कामना वाला होता है वैसे निश्चय संकल्प वाला होता है जैसे निश्चय वाला होता है वैसा कर्म करता है जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है।" इति ॥ वासना के भेद वाल्मीक महर्षि ने दिखलाये हैं:–

"वासना दो प्रकार की कही है शुद्ध और मलिन भी, मलिन वासना जन्म ग्रहण का कारण है और शुद्ध वासना जन्म विनाशक है अज्ञान के अत्यन्त दृढ़ आकार वाली (यानी अत्यन्त दृढ़ अज्ञान स्वरूप) गहरे दृढ़ अहंकार वाली पुर्नजन्म के देने वाली वासना को ज्ञानी जनों ने मलिन वासना कहा है।

पुनर्जन्म के अंकुर को छोड़कर भुने वीज की न्याई स्थित जो ज्ञेय परमात्मा के ज्ञान वाली वासना देह निवाह के लिये धारण की जाती है वह शुद्ध कहलाती है।"

देहादिक पंच कोश और उसके साक्षी चिदात्मा के भेद को ढकने वाला तम अज्ञान (कहलाता) है। उस अज्ञान से दृढ़ जम गया आकार जिसका वह यह सुघनाकार अज्ञान है। जिस प्रकार दूध तक्र के मिलाने से जम जाता

है, अथवा जैसे पिघला हुआ घी, अत्यन्त ठंडे स्थान में देर तक रखा हुआ अत्यन्त घन (कड़ा) हो जाता है इसी प्रकार वासना को जान लेना। घनी भाव भी यहां भ्रान्ति की परम्परा का नाम है। उस को असुर संपदा के वर्णन में भगवान् ने गीता में कहा है:—

"असुर जन प्रवृत्ति को और निवृत्ति को यानी विधि को और निषेध को नहीं जानते हैं उनमें न शौच होता है न आचार ही होता है और न सत्य होता है।

वे जगत को बिना सत्य यानी बिना नियति के, बिना परमात्मा के और बिना मर्यादा के मानते हैं, परस्पर स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से जगत उत्पति है। काम ही इसका कारण है और क्या है यानी कुछ नहीं है। (तात्पर्य्य यह है कि असुर लोग स्वेच्छाचारी होते हैं, किसी ईश्वर को, वेद को व धर्म को मर्यादा को जगत का नियामक नहीं मानते हैं, न परलोक का भय न पाप पुण्य का कुछ फल मानते हैं यहीं मैथुनी सृष्टि होती मिटती रहती है खाओ पिओ आनन्द मनाओ बस ऐसा ही मानते हैं)।

इस दृष्टि का आश्रय लेकर अपना नाश करने वाले अल्प बुद्धि यानी थोड़ी समझ वाले हिंसादि कठोर कर्म करने वाले जगत के बैरी जन विनाश के लिये समर्थ होते हैं।

जिस की पूर्ति होना कठिन है, ऐसी कामना को रख कर, दंभ, मान, और मद से युक्त, मोह से, यानी अविवेक से, अनुचित पक्ष को लेकर, अशुचि व्रत वाले होकर, कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

वे अनन्त चिन्ता का, मरण पर्यन्त आश्रय लिये हुए, विषयों के उपभोग परायण, इतना ही है, ऐसे निश्चय वाले सैकड़ों आशा रूपी फांसियों से बंधे हुए, काम क्रोधपरायण हुए विषय भोग की इच्छा से, अन्याय द्वारा धन इकट्ठा करने का यत्न करते हैं॥" इति॥ घन अहंकार को भी वहीं कथन किया है:—

"यह मुझे प्राप्त हुआ इस मनोरथ को मैं सिद्ध करूंगा यह तो अब भी मेरा है और अधिक धन फिर मिलेगा।

यह शत्रु मैंने मारा, औरों को भी मारूंगा, मैं ईश्वर हूं यानी विभूति ऐश्वर्य से सम्पन्न हूं, मैं भोग सम्पन्न हूं, मैं कुशल हूं, बलवान हूं, सुखी हूं। मैं मान्य हूं, कुलीन हूं, मेरे समान अन्य कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान करूंगा, आनंद मनाऊंगा, इस अज्ञान से विमोहित हैं। अनेक निश्चयों से विभ्रान्त, मोह जाल से सम्यक आवृत, विषय भोगों में आसक्त, अपवित्र नरक में पड़ते हैं।।" इति।। इस से पुनर्जन्म की कारणता का कथन किया है और उसी को फिर विस्तार पूर्वक कहा है:—

अपने को मान्य समझने वाले, नम्रता से रहित, धन मान और मद से युक्त, दंभ से, अविधि पूर्वक वे जन नाम मात्र यज्ञ को करते हैं। अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के परायण, अपने और पर के देहों में, मुझ से द्वेष करते हुए, गुणों में दोष दर्शन कथन करने वाले, उन द्वेष करने वाले, संसारी जनों में क्रूर यानी कठोर, नीच पुरुषों को मैं शीघ्र अशुभ आसुरी योनियों में फेंकता हूँ।

वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होकर मुझ को न प्राप्त होकर ही हे कुन्ती पुत्र! पीछे अधम गति को प्राप्त होते हैं।।" इति।। जिस साधन रूप वासना से ज्ञेय को जाना जाता है सो ज्ञातज्ञेया शुद्ध वासना ज्ञेय के स्वरूप को जानने वाली है। ज्ञेय के स्वरूप को भगवान ने तेरहवें अध्याय में कहा है:—

"जो ज्ञेय है जिसको जानकर अमृत को प्राप्त होता है उस ज्ञेय को मैं तुम से कहूँगा वह अनादि स्वरूप परम ब्रह्म है, उसको सब उपाधि से विनिर्मुक्त होने से, सद् रूप और असद् रूप नहीं कह सकते हैं। वह ज्ञेय सब ओर से पाणिपाद वाला है, सब ओर से नेत्र शिर और मुख वाला है, सब ओर

श्रोत्र वाला है, लोक में सब को व्याप्त करके स्थित है। (तात्पर्य्य यह है कि ज्ञेय को सदासद् रूप व्यक्त अव्यक्त सब उपाधि से विनिर्मुक्त होने से, उसके सर्वत्र ही पाणिपाद है यानी उसके पाणिपाद अवयव तो कहीं नहीं किन्तु वह ही सब कुछ सब रूप एक अद्वितीय ज्ञेय है। और जैसे तन्तु सब वस्त्र को व्याप कर स्थित है, द्रष्टा स्वप्न को व्याप कर स्थित है, इसी प्रकार ज्ञेय चिद् रूप आप सब ओर से सब को आवृत कर के यानी व्याप कर स्थित है)। सर्व इन्द्रियों के विषयों द्वारा भासने वाला और सर्व इन्द्रिय रूपी उपाधि से रहित है, असंग है, सर्व को धारण करती भी है, निर्गुण है और (अविद्या से) गुणों को भोक्ता है।

सब प्राणियों के अन्तर बाहर है (यानी सर्व भूतों का स्व अपना आप आत्मा है, और (माया से) स्थावर और जंगम रूप भी है, (बुद्धि का साक्षी) अति सूक्ष्म होने से, वह वृत्ति ज्ञान का विषय नहीं है, इसलिये अज्ञानी के लिये दूर है (जिस के दर्शनों के लिए दीन होता भटकता फिरता है) और वह समीप भी है (क्योंकि ज्ञानी का अपना आप स्व स्वरूप ही है)। (परमार्थ वस्तुगत दृष्टि से) प्राणियों में विभाग रहित (परमात्म रूप) है परन्तु विभाग को प्राप्त जीवों की न्याईं स्थित है, और (माया से) वह ज्ञेय भूतों का धारण करता भूत रूप से प्रादुर्भूत होने के स्वभाव वाला और ग्रसने वाला भी है। वह ज्योतियों का ज्योति स्वयं प्रकाश प्रकृति अविद्या से परे कहा जाता है।

यहां तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण द्वारा जानने के लिये सोपाधिक निरुपाधिक दोनों स्वरूपों का कथन किया। जो कदाचित्संबंधी होकर लखाता है वह तटस्थ लक्षण है जैसे देवदत्त का गृह। इसी प्रकार काल त्रय सम्बन्धी होकर जो लखावे वह स्वरूप लक्षण है। जैसे चन्द्र अत्यन्त प्रकाश वाला है।

शंकाः—पूर्वापर विचार से रहित होना वासना का लक्षण कहा और ज्ञेय का ज्ञान, विचार जन्य है, इस लिये वह शुद्ध वासना का लक्षण नहीं है।

समाधानः— ऐसा मत कहो, लक्षण में "दृढ़ भावना से" यह भी तो कहा है। जिस प्रकार, बहुत जन्मों में दृढ़ संस्कार युक्त होने से इस जन्म में, पर के उपदेश के बिना ही अहंकार ममकार काम क्रोधादिक मलिन वासना उत्पन्न हो जाती है इसी प्रकार प्रारंभिक बोध के विचार जन्य होने पर भी दीर्घकाल निरन्तर सत्कार पूर्वक तत्व की भावना से पीछे से प्रमाण वाक्य और युक्ति के स्मरण विचार के बिना ही, सन्मुख धरे हुये घट की न्याई अनायास आप से आपही तत्व का स्फुरण होता है। वैसे ज्ञान की पुनः पुनः आवृत्ति के सहित इन्द्रिय का व्यवहार शुद्ध वासना है। वह भी देह जीवन्मात्र के लिये उपयोगी है। न तो दंभ दर्पादिक असुरसंपत्ति के उत्पन्न करने के लिये और न जन्मान्तर के हेतु पुण्य पाप संस्कारों की उत्पत्ति के लिये ही है। जैसे भुने हुए धान्यादिक अन्न के बीज कोठी भरने मात्र के लिये उपयोगी हैं न तो रुचिदायक अन्न के लिये हैं और न आगे को धान्य उपजाने के योग्य हैं तद्वत्। मलिन वासना भी तीन प्रकार की होती है (१) लोक वासना (२) शास्त्र वासना और (३) देहवासना। जिस प्रकार कोई जन मेरी निन्दा न करें, और जिस प्रकार स्तुति करें, वैसा ही आचरण मैं सदा करूंगा यह हठ (१) लोकवासना है। उसका संपादन होना भी असंभव है, इस लिये मलिन वासना रूप है। सोई कहा है:—"इस संसार में कौन अत्यन्त गुणवान है और कौन बलवान है" इत्यादिक कथन से बहुत प्रकार से वाल्मीकी ने पूछा।

"इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए राम का नाम लोगों से सुना है।" इत्यादिक प्रत्युत्तर नारद ने दिया। वैसे राम की भी पतिव्रताओं में शिरोमणि स्वरूप, जगत्माता सीता जी की न सुनी जा सकने वाली लोक निन्दा फैल गई। औरों का तो कहना ही क्या है। इसी प्रकार देशों के भेद से, परस्पर निन्दा की बाहुल्यता उपलब्ध होती है।

दक्षिण के विप्र, उत्तराखण्ड के मांस भक्षी विप्रों की निन्दा करते हैं और उत्तर के ब्राह्मण मामा की लड़की व्याहने वाले और यात्रा में मृत्तिका

के पात्र उठाये फिरने वाले दक्षिण के ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं। बहु ऋचावाले अश्वलायन शाखा को कण्व शाखा से श्रेष्ठ मानते हैं। वाजसनेयी शाखावाले उल्टा मानते हैं। इस प्रकार स्व स्वकुल, गोत्र, बन्धु वर्ग इष्ट देवता आदिक की प्रशंसा और पराई निन्दा, विद्वानों से लेकर स्त्रियों में और बालकों तक मैं सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से कहा है। "शुचि परायण को पिशाच, पण्डित को पागल क्षमावान को असमर्थ, बलवान को दुष्ट, अचित्त शान्त पुरुष को चोर और सुन्दर को कामी कहते हैं, संसार को प्रसन्न करने का किस में सामर्थ्य है" ॥ इति ॥

"निसन्देह ऐसा कोई उपाय नहीं है जो सब संसार को सन्तुष्ट करने वाला होवे। सर्व प्रकार से अपने कल्याण का आचरण कर्तव्य है व्यर्थ ही बहुत बोलने वाला पुरुष क्या करेगा कुछ नहीं करा सकता है" ।।इति।।

इस लिये लोक वासना की मलिनता के अभिप्राय से योगीश्वर को निन्दा स्तुति में समानता मोक्ष शास्त्रों में वर्णन की है।। (२) शास्त्र वासना तीन प्रकार की है (क) एक तो पाठ मात्र करने का व्यसन का (यानी स्वभाव का) होना (ख) दूसरा शास्त्र अध्ययन का व्यसन और (ग) तीसरा शास्त्र में कहे हुए अनुष्ठानों का व्यसन है।। (क) पाठ का व्यसन भरद्वाज में जाना जाता है। उस भरद्वाज ने, पुरुष की आयुष के तीन भाग पर्यन्त, यानी ७५ वर्ष तक, अध्ययन किया इन्द्र ने अन्त के चौथे भाग की आयुष् का भी लोभ दिखाया उस २५ वर्ष में परिशेष रहे वेद के अध्यन के वास्ते ही प्रयत्न किया। उस पाठ को भी, असंभवता होने से वह मलिन वासना रूप है। इन्द्र ने उस असंभवता को समझा कर, पाठ से हठा कर उस से भी अधिक पुरषार्थ के लिये सगुण ब्रह्म विद्या का उपदेश किया। सो यह सब तैत्तिरीय ब्राह्मण में देख लेना ।। (ख) इसी प्रकार (मोक्षरूप) आत्यन्तिक पुरषार्थस्वरूप न होने से बहुत शास्त्रों के अध्ययन की मलिन रूपता कावषेय गीता में उपलब्ध होती है:—

कोई मुनि दुर्वासा बहुत प्रकार के शास्त्रों की पुस्तकों के भार को साथ लेकर महादेव के पास नमस्कार करने के लिये आया उस सभा में नारद मुनि ने भारवाही गर्दभ के समान (उन दुर्वासा मुनि को) बतलाया दुर्वासा ने क्रोध से पुस्तकों को खारे समुद्र में पटक दिया तब महादेव ने आत्म ज्ञान में उस दुर्वासा मुनि को लगाया। आत्मविद्या भी, अन्तर्मुखता विना गुरु की कृपा से रहित पुरुष को वेद शास्त्र मात्र से नहीं उत्पन्न होती है। सो इस में श्रुति प्रमाण हैं:—"यह आत्मा वेद के अध्यापन से प्राप्त नहीं होता है न धारण शक्ति से न बहुत प्रकार के शास्त्रों के श्रवण से मिलता है" ॥ इति ॥ और जगह भी कहा है:—

"बहुत शास्त्र की कथा रूपी कन्था के संकोच विस्तार से व्यर्थ ही क्या लाभ है (यानी शास्त्रों के बखेड़े फैलाने से क्या प्रयोजन है) तत्व ज्ञानियों को अन्तर आत्मा रूपी ज्योति को प्रयत्न से खोजना चाहिये।" इति ॥

"चारों वेदों को अनेक प्रकार के धर्म शास्त्रों को अध्ययन करके (मूढ़ जन) ब्रह्म स्वरूप को साक्षात् नहीं जानता है, जिस प्रकार कि करछी पाक के रसको नहीं जानती है तद्वत।" यह भी कहा है "नारद ने ६४ विद्याओं में निपुण होते हुए भी अनात्मवेत्ता होने से पश्चात्ताप किया और सनत्कुमार की शरण को प्राप्त हुआ" यह छान्दोग्य उपनिषद् में श्रुति अध्ययन की जाती है।

(ग) अनुष्ठान का व्यसन विष्णु पुराण में निदाघ के प्रतिज्ञात होता है और वसिष्ठ रामायण में दाशूर के प्रति पाया जाता है।

निदाघ को ऋभु ने बारंबार समझाया भी परन्तु कर्म में श्रद्धा की जड़ता को यानी दृढ़ता को उसने दीर्घ काल तक नहीं त्यागा और दाशूर को अत्यन्त श्रद्धा की जड़ता से अनुष्ठान के लिये कोई भी शुद्ध स्थान कहीं भी पृथ्वी पर नहीं मिला। इस कर्म की वासना को पुनः जन्म का हेतु होने से मलिनता है। सोई अथर्वण शाखा वाले उपनिषद् में पढ़ते हैं:—

क्योंकि यह १८ कहे हुए यज्ञ के प्रवृत्त करने वाले अदृढ़ यानी नाशमान नौका हैं जिनके निमित्त से यज्ञ रूप निकृष्ट कर्म होता है (इसलिये) यह यज्ञादि कर्म श्रेष्ठ है ऐसे समझ कर जो मूढ़ आनंद मनाते हैं वे पुनः पुनः जरा मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं ॥

अविद्या के अन्तर वर्तमान, अपनेको धीर पण्डित माननेवाले, क्लेशों के मारे हुए, मूढ़जन, इस प्रकार भटकते फिरते हैं जैसे अन्धों से लेजाये हुए अन्धे।

अविद्या में बहुत प्रकार से वर्तते हुए हम कृतार्थ हैं मूढ़जन ऐसा अभिमान करते हैं, जिस लिये कर्मिष्ठ लोग राग वश परंपद को नहीं जानते हैं इस लिये उस राग से पीड़ित होकर क्षीण लोक वाले हुए पुरुषार्थ से भ्रष्ट होते हैं।

"इष्ट को (वैदिक यज्ञ को) व पूर्त्त को [बावली, कूप, उपवन, धर्मशाला आदि बनाना स्मार्त कर्मों को] श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूढ़ पुरुष और कुछ श्रेष्ठ नहीं है यह समझते हैं वे स्वर्ग स्थान में पुण्य के फल को अनुभव करके इस मनुष्य लोक को अथवा अधिक नीच लोक को जाते हैं।" इति ॥

भगवान ने भी कहा है:—

अविद्वान लोग हे पार्थ! वेद के अर्थ बाद में रति वाले अन्य कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले भोग ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना वाले स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले जन, जन्म कर्म फल को देने वाली क्रिया विशेष की बाहुल्यता वाली जिस इस पुष्पित यानी रोचक वाणी को कथन करते हैं उन भोग ऐश्वर्य में आसक्त जनों के और उस अर्थ बाद से जिनका सद् विवेक अपहरण हो चुका ऐसे जनों के अन्तःकरण में एक परमात्मा में निश्चय वाली समझने की बुद्धि नहीं होती है।

वेद, त्रिगुणात्मक संसार को ही प्रकाशित करने वाले हैं, हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से रहित हो, निर्द्वन्द हो, परमात्मा में स्थित हो, योग क्षेम अर्थात् प्राप्ति और रक्षा की चिन्ता से रहित हो और प्रमाद रहित हो।

एक एक कूपादिक से जितना कार्य सिद्ध होता है, एक महा समुद्र से उतने सब कार्य होजाते हैं, (इसी प्रकार) विज्ञानी ब्रह्मवेत्ता को, सर्व वेदों के पृथक् २ अनुष्ठानों का फल एकत्र ब्रह्मानंद में मिल जाता है।

दर्प अर्थात् पर तिरस्कार का कारण होने से, शास्त्र वासना को मलिन रूपता है। श्वेतकेतु ने अल्प काल में ही सर्व वेदों का अध्ययन करके दर्प से पिता के भी आगे अनम्रता प्रकट की इस प्रकार छान्दोग्य वाले छटे अध्याय में पाठ करते हैं। इसी प्रकार बालाकी ने किन ही उपासनाओं को जान कर दर्पयुक्त, उशीनर आदिक बहुत देशों में दिग्विजय द्वारा बहुत विप्रों का अनादर करके काशी में ब्रह्मज्ञानियों में शिरोमणि अजातशत्रु पर अनुशासन करने के लिये ढिटाई की यह कौशीतकी शाखा वाले और वाजसनेयी शाखा वाले अध्ययन करते हैं। (३) देह वासना भी (क) देह में आत्मता (ख) अपने में गुणाधान तथा (ग) दोषनिवृत्ति की भ्रान्ति के भेद से तीन प्रकार की है।

(क) उन में से, देह में आत्मत्व भावना रूपी देह वासना को भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने कहा है:—"चैतन्य गुणवाला देह मात्र आत्मा है, ऐसे निश्चय वाले साधारण अज्ञ और नास्तिक लोग होते हैं। इति।

"अन्न रस वाला कोष ही, वह यह पुरुष यानी आत्मा है" यहां से लेकर "इस लिये वह अन्न कहलाता है" इस ग्रन्थ तक उसी प्राकृत पुरुषों के मत को तैत्तिरीय शाखा उपनिषद वाले स्पष्ट कहते हैं।

"विरोचन ने प्रजापति से उपदेश लेकर भी अपने चित्त के दोष से देह में आत्म भाव को दृढ़ करके सर्व असुरों को उपदेश किया" इस प्रकार छान्दोग्य शाखा वाले आठवें अध्याय में कहते हैं।

(ख) गुणाधान दो प्रकार का होता है एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय। ठीक ठीक (यानी युक्ति युक्त और शुद्ध उच्चारण पूर्वक)

शब्दादिक का संपादन करना लौकिक गुणाधान है।

कोमल ध्वनि से, गाने का, अध्ययन करने का, अथवा तैल पान मरीच भक्षण करने इत्यादिक का, लोग यत्न करते हैं। कोमल स्पर्श के लिये, लोक पुष्टि करने वाली औषधि आहार आदिक का उपयोग करते हैं। सौन्दर्य के लिये, तैल उबटना दुपट्टे भूषण आदिक का सेवन करते हैं। सुगंध के लिये माला चन्दन कर्पूर केसर आदि के लेप को धारण करते हैं। शास्त्रीय गुणों को स्वीकार करने के लिये गङ्गा स्नान शालिग्राम तीर्थादिक का संपादन सेवन करते हैं।

(ग) दोषापनयनः— देह के दोषों की निवृत्ति भी, वैद्य की बतलाई हुई औषधि से, तथा मुख आदि के धोने से तो लौकिक रूप है, और शौच आचमनादिक वैदिक है, ऐसे दो प्रकार की होती है।

इस देह वासना की मलिनता को कहते हैं। देह में आत्माभिमान प्रथम तो अप्रमाणिक है और फिर सम्पूर्ण दुःखों का कारण है, इस लिये मलिन है सर्व्व पूर्व आचार्यों ने भी इसी अर्थ के दिखलाने को पराक्रम किया है। गुणाधान भी बहुधा हमें देखने में नहीं आता है। प्रसिद्ध ही है कि बहुत से गाने वाले और अध्यापक प्रयत्न करते हुए भी ध्वनि के सौन्दर्य को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। मृदुस्पर्श और अंग की पुष्टि होनी भी नियत नहीं है, सौन्दर्य और सुगन्ध भी वस्त्र माला आदिक में रहते हैं देह में स्थित नहीं है। इसी लिये विष्णु पुराण में कहा हैः—

"मांस, रक्त, पीव, विष्ठा, मूत्र, नसों, अस्थीकी चरबी और हड्डी के समुदाय रूप देह में यदि मूढ़ पुरुष प्रीतिमान होवे तो वह नरक में भी प्रीतिमान होगा।

अपने देह की अपवित्रता और दुर्गन्ध से जो पुरुष वैरागवान नहीं होता है उसको वैराग का कारण और क्या उपदेश किया जावे। इति॥ और शास्त्रीय गुणाधान का दूसरे प्रबल शास्त्र से बाध होता है। "किसी भी

प्राणी की हिन्सा नहीं करनी" इस शास्त्र प्रमाण का जिस प्रकार "अग्निष्टोम यज्ञके देवता वाला पुरुष (उस यज्ञ होम में) पशु का बध करे" इस प्रमाण से खण्डन होजाता है इसी प्रकार यह वैराग युक्त प्रवल शास्त्र प्रमाण है:—

"जिस पुरुष की वात पित्त कफ तीनों धातुओं वाले शव (मृतक देह) में आत्म बुद्धि है स्त्री पुत्र आदिक सम्बन्धियों में यह मेरे हैं ऐसी बुद्धि है, पृथ्वी के विकार प्रतिमा आदिक में पूज्य देवता बुद्धि है। जिसकी जल में तो तीर्थ बुद्धि है परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुषों में तीर्थ बुद्धि नहीं है, वह ऐसा ही है जैसा पशुओं में गर्दभ होता है।" इति॥ "देह अत्यन्त मलिन है और देह वाला आत्मा अत्यन्त शुद्ध है दोनों के भेद को जानकर किसकी शुद्धि विहित मानी जावे। इत्यादिक प्रमाण है।

यद्यपि इस शास्त्र ने दोषापनयन का निषेध किया है, गुणाधान का तो निषेध नहीं किया तब भी विरोधी प्रवल दोषों के विधमान रहते हुए गुणों का धारण रखना असम्भव है इसीलिए अर्थ से गुणाधान का निषेध है। और अत्यन्त मलिन रूपता यहां मैत्रायणी शाखा में सुनी जाती है:—

"हे भगवन् अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, कफ और नेत्र जल से दूषित, विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त के समुदाय दुर्गन्ध वाले इस सार से शून्य शरीर में विषयों के उपभोग से क्या प्रयोजन है।" इति॥

यह शरीर मैथुन से ही उत्पन्न हुआ है और चेष्टा से रहित होकर, नरक रूपी मूत्र के द्वार से निकला है, हड्डी से व्याप्त है, मांस से लिपा हुआ है, चमड़े से मढ़ा हुआ, विष्ठा, मूत्र, कफ, पित्त, हड्डीकी चरबी, शरीरकी चरबी से और बहुत रोगों से भी परिपूर्ण धन के भण्डार की न्याईं भरा हुआ है। चिकित्सा से भी रोग की शान्ति अवश्य होगी यह नहीं कह सकते हैं, कदाचित् रोग शान्त भी हो जावें तो फिर हो जाते हैं। नवछिद्रों द्वारा निरन्तर मल बहते हुए अनगणित रोम के छिद्रों द्वारा पसीना बहते हुए गात के पसीना को कौन धोने में समर्थ है। सो पूर्व आचार्योंने कहा है:—

"नव छिद्र युक्त देहों से मल ऐसे बहते हैं, जैसे छिद्र युक्त घर से जल बहता है। बाह्य शौच से देहों की शुद्धि नहीं हो सकती है। न अन्तर शौच ही बनता है।"

इस लिये देह वासना मलिन है। सो इस मलिनता के अभिप्राय को लेकर श्री वसिष्ठ जी कहते हैं:—

जो माता पिता से रचा हुआ पांव से मस्तक तक देह है वही मैं हूं, यही एक निश्चय मिथ्या दर्शन रूप होने से, हे राम जी बन्धन के लिये है। मैं देह हूं ऐसी जो (निर्णय करी हुई) स्थिति है वह काल सूत्र नरक की वटिया है, वह अवीची नाम नरक में फँसाने वाला जाल है वह असिपत्र बन नाम नरक की सीढ़ी है।

वह (मैं देह हूं ऐसी भावना) सर्व नाश के उपस्थित होने पर भी सर्व यत्न से त्यागने योग्य है, उसका कल्याण चाहने वाले पुरुषने, इस प्रकार स्पर्श न करना चाहिये जैसे कुत्ते के मांस वाली चाण्डाली (अस्पर्श) त्याज्य होती है। सो यह लोक वासना शास्त्र वासना और देह वासना तीनों अविवेकियों को उपादेय प्रतीत भी होते हैं परन्तु ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाले के लिये ज्ञान के विरोधी होने से और विद्वान् को ज्ञान निष्ठा का विरोधी होने से विवेकियों ने त्याग देना चाहिये इसी लिये स्मृति में कहा है:—

"मनुष्य को लोकवासना से शास्त्र वासना से भी और देह वासना के कारण यथावत ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है।" इति ॥

श्री जीवन्मुक्ति विवेक रसायन।

(४) जों तो दंभ दर्पादिक असुर संपदा रूप मानस वासना है उसकी मलिनता नरक की हेतु होने से अति प्रसिद्ध है। इसलिये किसी भी उपाय से चारों वासनाओं का बिनाश करना चाहिये। जिस प्रकार वासना क्षय

को संपादन करना चाहिये उसी प्रकार मानसी वासना के नाश का भी यत्न करना चाहिये। तार्किकों की न्याईं, वैदिक जन, मन का स्वरूप, अणु परिमाण नित्य द्रव्य नहीं मानते हैं जिससे मनोनाश संपादन करना कठिन हो।

शंकाः—तब क्या मन सावयव है अनित्य है, सर्वदा लाख सुवर्ण आदिक की न्याईं बहुविध परिणाम के योग्य द्रव्य है ?

समाधानः—उस मन के लक्षण को और प्रमाण को वासनेयी शाखा वाले वेद में अध्ययन करते हैं:-"काम, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा) धी (यानी समझ) और भय, यह सब मन ही है"। सो यह मनका लक्षण कहा।

कामादिक वृत्तियां, क्रम से जब उत्पन्न होती हैं तब चक्षु के प्रत्यक्ष घटादिक की न्याईं साक्षी के प्रत्यक्ष होकर अति स्पष्टभान होती हैं,उन वृत्तियों का उपादान कारण मन है, यह अर्थ हुआ। "मन अन्यत्र था देखा नहीं, मन अन्यत्र था इस लिये मैंने सुना नहीं"। "यह मन से ही देखता है मन से ही सुनता है" इत्यादि प्रमाण हैं ॥इति॥ चक्षु के समीप बहुत प्रकाश के मध्यवर्ती घट, और श्रोत्र के समीप उच्च पठित वेद जिसके सावधान न रहते भान नहीं होते हैं (और सावधान रहते भान होते हैं, वह मन है) यह अर्थ हुआ। इस से भी पीठ पर स्पर्श किये हुए को मन से जानते हैं,यह उदाहरण है। जिस लिए मन लक्षण प्रमाण से सिद्ध है इस लिए उसका इस प्रकार कथन होना चाहिये। पीठ पर भी देवदत्त को किसी दूसरे ने स्पर्श किया तो वह विशेष करके जानता है कि यह हाथ का स्पर्श है यह अंगुली का स्पर्श है। वहां चक्षु का व्यापार नहीं है और त्वचा की इन्द्रिय तो मृदु कठिन को अनुभव मात्र करके निवृत्त हो जाती है। इस लिये मन ही विशेष ज्ञान का कारण बचा रह जाता है वह ही मनन से मन और चिंतन से चित्त कहलाता है। और वही चित्त सतो रजो तमो गुण वाला होता है क्योंकि

उस में सत्वादिक गुणों के कार्य जो प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह हैं सो देखनै में आते हैं। प्रकाशादिक गुणों के कार्य हैं यह गुणातीत के लक्षणों से जाना जाता है। "हे पाण्डव, प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह" यह गीता में कहा है। सांख्य शास्त्र में भी कहा है:—

"प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह व्यवहार की व्यवस्था के लिए हैं। यह कहा है। प्रकाश नाम यहां शुक्ल प्रकाश रूप का नहीं है किन्तु ज्ञान का है।

"सत्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, और रजोगुण से लोभ भी और तमोगुण से प्रमाद मोह और अज्ञान भी होते हैं।" यह कहा है ज्ञान की न्याईं सुख भी सतोगुण का कार्य है सो भी कहा है:—

"हे भारत, सतोगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में और तमोगुण तो ज्ञान को ढक कर प्रमाद में भी जोड़ देता है।" इति॥ समुद्र की तरंगों की न्याईं विकार को प्राप्त होने वाले गुणों में से कदाचित् कोई प्रकट होजाता है, दूसरे दब जाते हैं, सो कहा है:—

"हे भारत, रज और तम को दबाकर सतोगुण बढ़ता है, सतोगुण और तमोगुण को दबा कर रजोगुण प्रकट होता है तथा सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण प्रकट होता है।" इति॥ समुद्र में तरंगों की न्याईं गुण परस्पर बाध्य बाधक भाव को प्राप्त होते रहते हैं।" इति॥

उनमें से तमोगुण के प्रकट होने पर असुर संपदा उदय होती हे रजोगुण के उत्पन्न होने पर लोक वासनादिक तीनों वासना प्रकट होती हैं, सतोगुण के प्रकट होने पर दैवी संपदा उपजती है इस ही अभिप्राय से कहा है:—

"इस देह के सब इन्द्रिय द्वारों में से जब वृत्ति ज्ञान अपने विषय को प्रकाशित करता है (यथावत् जानता है) तब सतोगुण बढ़ा हुआ जानों।"

वह सात्विक चित्त भी चंचलता के हेतु रजोगुण से शून्य होने से एकाग्र होता है। भ्रान्ति से कल्पित अनात्म स्वरूप स्थूल पदार्थाकार होने का कारण जो तमोगुण है उससे रहित होने से सूक्ष्म कहलाता है वह आत्म दर्शन के योग्य है इस लिए ही श्रुति प्रमाण है:—

सूक्ष्म दर्शी जन, एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि से, आत्म दर्शन करते हैं:- निःसन्देह वायु से कम्पायमान दीपक द्वारा मणि मोती आदिकों के लक्षण नहीं निश्चय किये जा सकते हैं। और नही कुदाल जैसी मोटी सुई से सूक्ष्म वस्त्र सिया जा सकता है, सो इसी प्रकार अंतः करण भी अयोगियों में तमोगुण सहित रजोगुण से मिला हुआ बहुविधि द्वैत संकल्प से चंचल चित्त रूप होता है। वह चित्त तमोगुण की अधिकता के होने से आसुरी संपत्ति को बढ़ाता हुआ स्थूल होता है। ऐसे ही वसिष्ठ जी कहते हैं:—

"अनात्मा में आत्म भावना से इसी प्रकार देह की भावना से यानी लालन पालन से और पुत्र स्त्री तथा कुटुम्ब से चित्त स्थूल होजाता है।

अहंकार के विकार से ममता रूपी मल के साथ क्रीडा करने से यह मेरा है इस भावना से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है। मानसी चिन्ता और शारीरिक रोग रूप विलास से संसार में सम्यक् सुख मानने से हेय उपादेय के विभाग से चित्त स्थूल हो जाता है। (अस्वभाविक आगन्तुक वेष को विलास कहते हैं यह बनावटी होता है)।

स्नेह से धनके लोभ से बिना विचारे रमणीय मणि, स्त्री के लाभ से चित्त स्थूल हो जाता है।

दुराशा रूपी दूध का पान करने से, भोग रूपी वायु सेवन के बल से प्रपंच में आस्था के ग्रहण से, क्रिया से, चित्त रूपी सर्प पुष्ट होजाता है। आस्था नाम प्रपंच में सत्यत्व बुद्धि का है। आदान अंगीकार वह चा

यानी गमनागमन क्रिया है उस से। सो इस प्रकार विनाश करने के योग्य जो वासना और मन का स्वरूप है, उनका निरूपण किया।

अब वासना क्षय और मनोनाश का क्रम से निरूपण करते हैं उन में वासना क्षय के प्रकार को कहते हैं।

श्री वसिष्ठ जीः—वासना रूपी बंधन ही बंधन है, वासना का क्षय मोक्ष है, तुम वासना का परित्याग करके, मोक्ष की इच्छा का भी त्याग करो।

संकल्पात्मक वासना से पहले स्थूल विषय वासना को त्याग कर (इन दोनों के त्याग के पीछे) मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा रूपी शुद्ध वासनाओं को ग्रहण करो।

उन को भी हृदय से परित्याग करके, उन से व्यवहार मात्र करते हुए अन्तर स्नेह की अत्यन्त शान्ति पूर्वक चिन्मात्र वासना वाले हो जाओ मन और बुद्धि संयुक्त उस चिन्मात्र वासना का भी परित्याग करके शेष आत्मा में दृढ़ निष्ठा युक्त अन्तःकरण वाले होकर जिस अभिमान से त्याग करते हो उस अभिमान को भी परित्याग करो ॥ इति ॥

यहां मानस वासना शब्द से पहले कही हुई लोक शास्त्र देह वासना कहने की इच्छा है। विषय वासना शब्द से दंभ दर्पादिक असुर संपदा कहना चाहते हैं। उन वासनाओं के भेद के कथन में कारण उनके मृदु और तीव्र भाव हैं। अथवा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध जो विषय हैं उनकी कामना वाली दशा के संस्कार मानस वासना हैं। भोग अवस्था की दशा के संस्कार विषय वासना हैं। इस कथन में पूर्व कही चारों ही वासनाओं का यानी लोक शास्त्र देह इन तीनों की वासनाओं का तथा मानसी दंभदर्पादिक असुर वासना का विषय और मानस दोनों में अन्तर्भाव है। अन्तर बाहर को छोड़कर और कोई वासना हो सकती ही नहीं है।

शंकाः—क्योंकि उन वासनाओं का कोई आकार नहीं है इस लिये वासनाओं का परित्याग कैसे घट सकता है ? जिससे कि बुहारी से एकत्र किये धूलि तृणवत् हाथ से उठाकर वासनाओं को बाहर फेंक सकें।

समाधानः—ऐसा न कहो, उपवास जागरण की न्याई, यह वासनाओं का त्याग भी किया जा सकता है। स्वभाव से प्राप्त भोग और निद्रा का कोई आकार नहीं है, तब भी उनके परित्याग रूप उपवास और जागरण का सब कोई अनुष्ठान करते हैं इसी प्रकार यहां वासना त्याग के प्रसंग में भी बन सकता है।

"अब में आज निराहार रहूंगा" इत्यादि मन्त्र से संकल्प करके सावधान होकर स्थित रहना, वहां, यही तो त्याग है, ऐसा कहो तो हम भी वासना त्याग के प्रसंग में, दण्ड से निवारण करने को, नहीं कहते हैं। क्योंकि प्रैषमात्र संकल्प करके प्रमाद रहित होकर स्थित रहा जा सकता है।

जिनका वैदिक मन्त्र में अधिकार नहीं है उनका संकल्प भाषा द्वारा रहो। यदि उपवास के प्रसंग में शाक, दाल, भात आदिक को अपने पास रखने का त्याग होता है, तो यहां भी माला चन्दन नारीकी समीपता का त्याग रहो। और जो कहे कि वहां भूख, निद्रा, आलस्य आदिक के भुलाने वाले पुराण श्रवण, देव पूजा, नृत्य, गीत, बाजे आदिकों से, चित्त बहलाया जाता है, तो यहां वासना त्याग, में मैत्री आदिक साधनों से जी को बहलाइये। मैत्री आदिक का वर्णन भी पातञ्जलिने सूत्र में किया है:—"सुख, दुःख, पुण्य और पाप वालों के विषय में मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा की (यथाक्रम) भावना से चित्त निर्मल होता है।" इति ॥ रागद्वेष द्वारा पुण्य और पाप से चित्त मलिन किया जाता है रागद्वेष के लक्षण भी पातञ्जली ने सूत्र में कहे हैं:—"सुख के अनुसारी राग होता है दुःख के अनुसारी चित्त में द्वेष होता है" ॥ इति ॥ कोई चित्त की वृत्ति विशेष स्नेह से अपने अनुभव किये सुख के पीछे लग जाती है कि जो कुछ है सब सुख मुझे मिल जाय। और प्रत्यक्ष

साधन न होने से तथा पूर्व कर्मानुसार सामग्री के न होने से, वह सुखसंपादन नहीं किया जा सकता है। इस लिये वह राग चित्त को मलिन करता है। यदि सुखी प्राणियों में यह मैत्री की भावना करे कि यह सब औरों का भी सुख मेरा ही तो है तब वह सुख अपना ही होगया। ऐसी भावना करने पर उस सुख में से राग निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार कि अपना राज्य न होते हुए भी पुत्रादिक का राज्य भी अपना ही है ऐसा समझलिया जाता है तद्वत् जान लेना और जैसे वर्षा व्यतीत होने के पीछे शरत् काल की नदी निर्मल हो जाती है ऐसे ही राग निवृत्त होने पर चित्त निर्मल हो जाता है तिसी प्रकार कोई चित्त की वृत्ति विशेष दुःख के पीछे पड़ती है कि ऐसा दुःख मुझे कभी न हो, और वह तो शत्रु व्याघ्रादिक के रहते निवारण नहीं हो सकता है। और सब ही दुःख के हेतु हनन भी नहीं किये जा सकते हैं। इस लिये वह द्वेष सदा हृदय को जलाता है। यदि जैसे अपनी दुःख की निवृत्ति चाहता है ऐसे और किसी को भी विरोधी दुःख न हों इस प्रकार की करुणा की भावना दुःखी प्राणियों के प्रति करे तो वैर आदि दोषों की निवृत्ति से चित्त निर्मल होता है इसी लिये कहा है:—

"जिस प्रकार प्राण अपने लिये प्रिय हैं, इसी प्रकार वे प्राण अन्य जीवों को भी प्रिय हैं साधुजन अपने सदृश ही प्राणियों के ऊपर दया करते हैं" ॥ इति ॥ और उस दया के प्रकार को महान् पुरुष दिखलाते हैं:—

"यहां सब सुखी हों सब रोग रहित हों सर्व कल्याण का अनुभव करें, कोई पुरुष दुःख को न प्राप्त हो।"

वैसे तो प्राणी लोग स्वभाव से ही पुण्य का अनुष्ठान नहीं करते हैं, परन्तु पाप का अनुष्ठान करते हैं। सो कहते हैं:—

"मनुष्य पुण्य कर्मों के फलरूप सुखभोग की इच्छा करते हैं पुण्य करने की इच्छा नहीं करते हैं, पाप के फलरूप दुःखों के भोगने की इच्छा नहीं करते हैं पाप को प्रयत्न से करते हैं" ॥ इति ॥

और वे पुराय पाप पीछे जलन को उत्पन्नन करते हैं। और उस जलन का श्रुति ने अनुवाद किया है:—"मैंने पुराय क्यों नहीं किया? मैंने पाप क्यों किया?" ॥इति। यदि यह पुरुष पुराय करने वालों में मुदिता (अनुमोद) की भावना करे तब उस भावना से आप ही प्रमाद रहित होकर पुराय कर्मों में प्रवृत्त हो जावे और पापियों में उपेक्षा (संग त्याग) की भावना से पाप से हट जावे। इस लिये पीछे के ताप की निवृत्ति हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। सुखियों में मैत्री की भावना करने से केवल राग की ही निवृत्ति नहीं होती है किंतु पर गुणों में दोष दर्शन और ईर्ष्या आदिक की भी निवृत्ति हो जाती है। पराये गुणों को न सहार सकना ईर्ष्या है और गुणों में दोषों का आरोप करना असूया है। जब मैत्री के वश से औरों का सुख अपना ही हुआ तो पराये गुणों में असूयादिक कैसे संभव हों। इसी प्रकार यथा योग्य दूसरे दोषों की भी निवृत्ति जान लेनी। दुखियों में करुणा की भावना करते हुए जैसे शत्रु के वध आदिक को करने वाला द्वेष, निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार दुःखी होने का विरोधी जो अपने सुखी होने के साथ रहने वाला पर तिरस्कार अभिमान है, वह भी निवृत्त हो जाता है। और वह दर्प, असुरों की संपदा के निरूपण विषय अहंकार के प्रसंग में हम पहले कथन कर चुके हैं:—

शंका:—पुरायात्मा पुरुषों में मुदिता की भावना करते हुये को पुराय में प्रवृत्ति फल रूप से कथन की वह तो योगी के लिये ठीक नहीं है। पुराय रूप शास्त्र वासना को मलिन वासना के अन्तर्गत मानकर हम पूर्व कथन कर चुके हैं। पुनर्जन्म कारी काम्य इष्टा पूर्तादिक कर्म को वहां मलिन रूप से कथन किया है।

समाधान:—यहां तो योग अभ्यास से जन्म अशुक्ल अकृष्ण रूप से जन्मको न देने वाले पुराय कर्म का कथन इष्ट है। अशुक्ल कृष्णता पातञ्जलि ने सूत्र में कही है:—"योगी के अशुक्ल कृष्ण यानी पाप पुराय से रहित कर्म

होता है, दूसरों के त्रिविध यानी पाप पुण्य और मिले हुए कर्म होते हैं" इति ।। काम्य कर्म शास्त्र विहित होने से शुक्ल है निषिद्ध कर्म कृष्ण है मिला हुआ पुण्य पाप शुक्ल कृष्ण होता है। सो यह तीनों कर्म दूसरे अयोगियों के होते हैं। और वह तीन प्रकार के जन्म को देते हैं सो विश्वरूपाचार्य कहते हैं:-

"मनुष्य शुभ कर्म से देवता भावको प्राप्त होता है, निषिद्ध कर्मसे (यानी शास्त्रों और सज्जनों से निन्दित कर्मोंके करने से) नरक गामी होता है, दोनों मिले हुए पुण्य पापों से अवश होकर मानुषी योनि को प्राप्त होता है"।।इति।।

शंका:-योग, निषिद्ध कर्म नहीं है इस लिये अकृष्ण यानी पाप रहित भी है और विहित होने से शुक्ल रूप भी है ऐसा कहने पर।

समाधान:-यह ठीक नहीं है, अकाम्यता के अभिप्राय से अशुक्ल रूपता (यानी सकाम पुण्य से भी रहित होना) कहा है। इस लिये अशुक्ल कृष्ण रूप पुण्य कर्म में योगी की प्रवृत्ति आवश्यक है।

शंका:-तब तो इस न्याय से योगी भी पुण्यात्मा जनों में यथोचित मुदिता की भावना करके पुण्य कर्मों में ही प्रवृत्त हो जावेंगे, ऐसा कहें तो।

समाधान:-हां प्रवृत्त भी रहो। जो मैत्री आदि साधन द्वारा चित्त को निर्मल करते हैं वे ही तो योगी हैं। मैत्री आदि चारों सब पुण्यों के उपलक्ष हैं। उनसे "अभय, अन्तःकरण की शुद्धि" इत्यादि दैवी संपदा तथा "अमानित्व, अदंभित्व" इत्यादि से ज्ञान के साधन और जीवन्मुक्त स्थित प्रज्ञादि वचनों से कहे हुए धर्म भी उपलक्षित हैं। क्योंकि यह सब शुभ वासना रूप होने से मलिन वासना के निवर्तक हैं ।।

शंका:-शुभ वासना तो अनन्त हैं और एक मनुष्य से उन सब का अभ्यास हो नहीं सकता है। और उनके अभ्यास का परिश्रम निरर्थक है तो यह कहे।

समाधानः—यह कथन नहीं बनता है, उन शुभ वासनाओं से निवारण होने योग्य अनन्त मलिन वासना भी तो एक पुरुष में होनी असंभव हैं। आयुर्वेद में कही हुई सब औषधियों को तो एक ही आदमी सेवन नहीं कर सकता है। ऐसा है तो, प्रथम, अपने चित्त की परीक्षा करके उसमें जब जितनी मलिन वासना हों, तब उतनी विरोधी शुभ वासनाओं का अभ्यास करे। जिस प्रकार पुत्र मित्र स्त्री आदिक से दुःखी किया हुआ उन से विरक्त पुरुष उन से निवृत्ति करानेवाले संन्यास आश्रमको स्वीकार करता है, इसी प्रकार विद्यामद, धन मद, कुलाचार मद इत्यादिक मलिन वासना से पीड़ित हुआ, उनके विरोधी विवेक का अभ्यास करे। और वह विवेक जनक ने दिखाया हैः-

"इस समय जो बड़ों के मस्तक पर हैं वे कुछ दिनों में नीचे गिर जाते हैं। हे चित्त बड़ा खेद है तेरी इस महानता का क्या विश्वास है। राजाओं के धन कहां हैं? ब्रह्मा के जगत कहां हैं? प्रथमके जन चले गये, तेरा यह क्या विश्वास है?"

ब्रह्मा की कोटियां चली गईं, सृष्टि की बहुत परंपरा नष्ट होगईं, राजा लोग धूली की न्याईं उड़गये, मेरे जीवन में क्या विश्वास है? जिन के पलक बन्द करने से और खोलने से जगत का प्रलय और उदय होता था वैसे पुरुष नष्ट होगये हमारे जैसों की गणना ही क्या है?

शंकाः—यह भी विवेक तत्वज्ञान के उदय होने से पहले होता है क्यों कि नित्यानित्य वस्तु के विवेकादिक साधन के बिना, ब्रह्मज्ञान होना असंभव है। यहां तो ब्रह्म साक्षात्कार जिसको उत्पन्न होगया उस की जीवन्मुक्ति के लिये, वासना क्षय आदिक साधन कहने का आरंभ किया है इस लिये यह विना योग्य स्थान के नृत्य कैसा? ऐसे कहने पर समाधान करते हैं किः—

समाधानः—यह दोष नहीं है। साधन चतुष्टय संपन्न को पीछे से ब्रह्म ज्ञान होता है यह सर्व साधारण पुरुषों से गाहा हुआ राज मार्ग है (यानी

सीधी सड़क है) । जनक को तो पुण्य समूह के परिपाक से आकाश से फल गिरने के सदृश अकस्मात् सिद्ध गीता के श्रवण मात्र से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगया । इसलिए चित्त की विश्रान्ति के वास्ते यह विवेक सम्पादन किया जाता है इसलिये यथा स्थान ही यह उचित कृत्य है ।

शंकाः—ऐसा भी सही, परन्तु इस विवेक को ज्ञान के पीछे विद्यमान रहने से मलिन वासना की अनुवृत्ति नहीं होती है, इसलिये शुद्ध वासना के अभ्यास की अपेक्षा नहीं है । ऐसे कहे तो ।

समाधानः—यह कथन उचित नहीं है, जनक को यद्यपि मलिन वासना की पुनः उत्पत्ति ज्ञान होने के पीछे नहीं भी हुई, तब भी याज्ञवलक्य भगीरथ आदिक उनकी मलिन वासनाओं की अनुवृत्ति देखने में आती है । क्योंकि याज्ञवलक्य को और उसके प्रतिवादी कहोल उषस्तादिकों को बहुत विद्या मद रहा ही है । वे सभी विजय के लिए शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुए हैं ।

शंकाः—उनको दूसरी विद्या रही है ब्रह्मविद्या न होगी ।

समाधानः—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कथागत प्रश्नोत्तर का विषय ब्रह्म है ।

शंकाः—विषय, ब्रह्म भी हो, परन्तु, उनको (बिना विचार का) आपात ज्ञान ही था सम्यक् ज्ञान नहीं था ।

समाधानः—यह ठीक नहीं, ऐसा मान लें तो हम लोगों को भी उन वाक्यों से उत्पन्न हुए ज्ञान की असम्यक्ता का प्रसंग हो जावेगा ।

शंकाः—सम्यक् ज्ञान भी मान लें, तो भी परोक्ष ज्ञान ही होगा ।

समाधानः—यह कहना नहीं बनता है, क्योंकि "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है" इस मुख्य अपरोक्ष विषय को लेकर ही विशेषतः प्रश्न उपलब्ध होता है ।

शंकाः—विद्या मद तो आत्म ज्ञानियों के प्रति आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। जैसा कि उपदेश साहस्री में कहा हैः—

"विद्यामद को (यानी) ब्रह्मज्ञानी होने के अभिमान को छोड़कर वह आत्मज्ञानी होता है, दूसरा कोई नहीं।" इति ॥

नैष्कर्म्य सिद्धि में भी कहा हैः—"विद्वान् को "मैं आत्मा हूं" इस ज्ञान का भी अभिमान नहीं होता है, क्योंकि अभिमान असुर भाव है। विद्वान् भी यदि असुर होतो, ब्रह्मदर्शन निष्फल है॥" इति ॥

समाधानः—यह दोष नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति तक के तत्वज्ञान का, वहां कथन करना इष्ट है। निस्सन्देह हम भी जीवन्मुक्तों के प्रति विद्या मद होना नहीं मानते हैं।

शंकाः—सभा विजय की इच्छा वाले को तो आत्म बोध ही नहीं होता है क्योंकिः—

"चित्त रूपी व्यायाम की भूमि में यानी चित्त रूपी अखाड़े में, राग अज्ञान का चिन्ह है। जिस वृक्ष की खोड़ में (पोली जगह में) अग्नि हो, उसके हरियाली कहां है?"

इस कथन से आचार्य ने रागी के प्रति ज्ञान नहीं माना है।

समाधानः—तेरा यह कथन ठीक नहीं है।

"यथेष्ट रागादिक रहो वह राग विद्वान् का अपराधी नहीं है जाड के दांत उखाड़े हुए सर्प के तुल्य अविद्या क्या करेगी?" ॥इति॥ इस श्लोक में उन्होंने ही रागादिक को स्वीकार भी कर लिया है। इन दोनों बातों में परस्पर विरोध भी नहीं है। स्थित प्रज्ञ और ज्ञानी मात्र के प्रति दोनों वचनों की व्यवस्था बन जाती है।

शंकाः—ज्ञानी के रागादिक मानलें तो धर्माधर्म द्वारा फिर जन्म लेने का प्रसंग हो जावेगा।

समाधानः—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि बिना भुने हुए बीज की न्याईं अविद्या पूर्वक रागादिक ही मुख्य रागादिक होने से पुनर्जन्म का हेतु हैं। इसी अभिप्राय से कहा हैः—

"तब उत्पन्न हुए रागादिक तब प्रथम ही विवेक ज्ञान रूपी अग्नि से जल जाते हैं, उनका फिर (अदृष्ट उत्पादन द्वारा पुनर्जन्म के हेतु होकर) उत्पन्न होना कैसे हो सकता है यानी असंभव है ॥इति॥"

शंकाः—तब वे रागादिक, स्थित प्रज्ञ के भी रहो।

समाधानः—यह ठीक नहीं है क्योंकि रागादिक काल में तो मुख्यवत ही वे आभास मात्र भी रागादिक दुःखदायक होते हैं। रज्जु का सर्प भी उस समय तो मुख्य सर्प की न्याईं ही भयदेता जाना जाता है।

शंकाः—यह रागादिक तो आभास मात्र ही हैं इस चिन्तन के पुनः पुनः होने से फिर तो कोई भी क्लेश नहीं है।

समाधानः—यह कहें तो, आप चिर पर्यन्त जीवित रहें। हमको अभीष्ट जीवन्मुक्ति यही है। याज्ञवल्क्य के तो विजय की इच्छा वाली दशा में ऐसा नहीं रहा, क्यों चित्त की विश्रांति के लिये, उसको विद्वत्सन्यास करना पड़ा। उसको विजय की इच्छा ही केवल नहीं थी। किन्तु धन की तृष्णा भी बहुत बढ गई थी। क्यों कि बहुत से ब्रह्मवेत्ताओं के आगे स्थापित जो अलंकार सहित सहस्र गऊ थीं उनका अपहरण करके आप ही याज्ञवल्क्य ने कहाः—"हम ब्रह्मनिष्ठों को नमस्कार करते हैं, हम तो गोकामना वाले ही हैं" ॥ इति ॥

शंकाः—अन्य ब्रह्मज्ञानियों का तिरस्कार करने के लिये किसी कथन की रीती को ग्रहण कर लिया।

समाधानः—ऐसा कहने में तो यह और भी अधिक दोष है। दूसरे भी ज्ञानी यह समझ कर कि हमारा धन इस याज्ञवल्क्य ने छीन लिया क्रोधित

हुऐ। इस याज्ञवल्क्य ने भी क्रोध के वश होकर शाप द्वारा शाकल्य को मार डाला। और इस ब्रह्म हत्यारे को मोक्ष नहीं होगा यह शंका भी नहीं करना। क्योंकि कौषीतकी शाखा वाले श्रुतिपाठ करते हैं—"इस विद्वान का किसी भी कर्म से आत्मा रूपी लोक नष्ट नहीं होता है न मातृ बध से न पितृ बध से, न चोरी से न ब्रह्महत्या से" ॥इति॥

शेष ने भी स्वरचित आर्य पंचाशी नामक ग्रंथ में यह कहा है :—

"चाहे तो, एक लक्ष अश्वमेध यज्ञ करे, अथवा लाखों ब्रह्मघात करे, परमार्थदर्शी पुरुष न पुण्य से लिप्त होता है न पाप से क्योंकि निर्मल है।" इति ॥

इसलिये बहुत कहने से क्या है, याज्ञवल्क्य आदिकों को मलिन वासना की अनुवृत्ति थी ही। और भगीरथ तत्व साक्षात्कार करके भी राज्य पालन करता हुआ मलिन वासना द्वारा चित्त के विश्रांति न होने से सब का परित्याग करके पीछे शान्तिवान हुआ, यह उपाख्यान वसिष्ठ जी ने कहा है। इसलिये अपनी वर्तमान मलिन वासना विशेष को पराये दोष की न्याईं सम्यक परख से जानकर उसकी निवृत्ति का अभ्यास करे इसी अभिप्राय से स्मृति में कहा है :—

"सम्यक परदोष दर्शन में निरन्तर रतिवान पुरुष जैसा अत्यन्त चतुर होता है वैसा अपने दोष दर्शन में यदि कुशल हो जावे तो कौन बन्धन से न मुक्त हो जावे।" ॥ इति ॥

शंका :—अच्छा, आरंभ में तब तक विद्या मद की निवृत्ति का क्या उपाय है ?

समाधान :—इस कथन पर हम पूछते हैं कि तुम पर विषय को लेकर जो तुमको अपने मन में मद हो उसकी निवृत्ति का उपाय पूछते हो अथवा तुम्हारे अपने विषय को लेकर जो दूसरे के हृदय में मद हो उसकी निवृत्ति

का उपाय पूछते हो। प्रथम पक्ष में तो तुम यह निरन्तर चिन्तन करते रहो कि मद भंग अवश्य होगा सो जैसे श्वेत केतु विद्या से मतवाला होकर, पवाहण राजा की सभा में गया, उस राजा ने पञ्चाग्नि विद्या को पूछा। श्वेतकेतु को आप ज्ञात नहीं था, इसलिये निरुत्तर हो गया, तब राजा ने बहुत प्रकार से शासना की तो पिता के पास जाकर विद्या में अपना वैराग प्रगट किया पिता तो मद से रहित था उसने उस राजा के अनुकूल होकर उस विद्या को प्राप्त कर लिया।

अहंकारी बालाकी को जब राजा अजात शत्रु ने शासना की, तो दर्प को त्याग कर जिज्ञासा से राजा की शरण को प्राप्त हो गया। उषस्तक होलादिक ब्राह्मण मद से शास्त्रार्थ करके पराजित हुए। जब तुम्हारे सम्बन्ध का मद दूसरे के हृदय में हो तब यह भावना करो कि वह दूसरा मेरी निन्दा करो अथवा अपमान करो किसी प्रकार से भी मेरी हानि नहीं है। इसी लिये कहा है:-"यदि आत्मा की निन्दा करते हैं तो वे अपनी निन्दा आप ही करते हैं। यदि शरीर की निन्दा करते हैं तो वे जन मेरे सहायक हैं।

जिस योगी के लिये निंदा और अपमान अत्यन्त भूषण रूप हैं वहां वाचाल पुरुष उसकी बुद्धि को विक्षिप्त कैसे कर सकते हैं। यदि दोष रूप समझ कर कूड़ा फेंकने वाले के प्रति कूड़े कबाड़ के दोषों को कथन करे तो उस दोष कथन से उस कूड़ा फेंकने वाले की वहां क्या हानि है। इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म देह को विचार द्वारा त्याग देने पर यदि उन दोनों के दोष कथन करे तो उस में विद्वान की क्या हानि है ॥इति॥

"शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, आदिक और जन्म मरण यह सब अहंकार के धर्म देखे जाते हैं आत्मा के धर्म नहीं है।"

और निन्दा का भूषणरूप होना ज्ञानांकुश नाम पुस्तक में दिखाया है:-"यदि लोक संसार मेरी निन्दा से सन्तुष्ट होता है तो मेरे ऊपर यह

विना मेरे यत्न के ही उनका किया हुआ अनुग्रह है क्योंकि कल्याणार्थी पुरुष पर को सन्तुष्ट प्रसन्न करने के लिये दुःख से कमाये हुए धनका भी परित्याग कर देते हैं।

निरन्तर सुलभ दीनता वाले सुख रहित जीव लोक में (संसार में) यदि कोई पुरुष मेरी निंदा से प्रसन्नता को प्राप्त होता हो तो मेरे सन्मुख अथवा पीछे यथेष्ट निंदा करने दो क्योंकि जगत जो स्वयं बहुत दुःख रूप है उस में प्रीति का संयोग यानी दूसरे को प्रसन्न करना दुर्लभ है ।" इति॥ अपमान भूषण रूप है यह स्मृति में कहा है:—

योगी सत पुरुषों के धर्म को दूषित न करता हुआ ऐसा आचरण करे जिससे लोक उसका अपमान करें उसकी संगति को ही न प्राप्त होवें ।इति॥ याज्ञवल्क्य उषस्त आदिकों के जो अपने हृदय में रहने वाले और दूसरों के हृदय में रहने वाले विद्या मद हैं उनको जैसे विवेक से निवृत्ति का उपाय होता है वैसे ही धनकी इच्छा और क्रोध की निवृत्ति का भी उपाय जान लेना।

"धन के कमाने में जैसा क्लेश होता है वैसा ही रक्षा में होता है, नाश में दुख है व्यय में दुख है क्लेश कारी धन को धिक्कार है ।" यह धन सम्बन्धी विवेक है।

क्रोध भी दो प्रकार का होता है दूसरे के प्रति अपना क्रोध और दूसरे में रहने वाला क्रोध जो अपने विषय में हो। उन दोनों में से अपने क्रोध के प्रति ऐसा कहा है:—

"तुझे जो अपकारी पर क्रोध है, सो तुझे क्रोध पर कोध क्यों नहीं होता है जो धर्म अर्थ काम मोक्ष का बलात्कार से लूटने हारा है।" क्रोध यदि सफल हो तो धर्म, यश और धनका विनाश करने वाला है, और व्यर्थ यानी निष्फल हो जावे तो शरीर को तपाने वाला है जो क्रोध पुरुषों के

लिये न इस लोक में हितकारी है न परलोक में हित के लिये है उस कोप का मन में कैसे सम्यक लीजिये ॥इति॥

अपने संबंध में जो दूसरे को क्रोध हो उसके प्रति यह कहा है :—

"मेरा तो कोई अपराध नही है अकारण ही पुरुषों में मेरी निन्दा क्यों है, यह चिन्तन ही न करना चाहिये। जो पूर्व जन्म में संसार निवृत्ति का उपाय नहीं किया, इसलिये बड़ा भारी अपराध हुआ यही चिन्तन करना चाहिये।

अपने आश्रय यानी देह को अत्यन्त जलाने वाले कोप देव के प्रति नमस्कार हो जो कोप देव मुझ कोप करने वाले को वैराग देने वाला और दोष बोधन करने वाला है। ॥इति॥

धन की अभिलाषा और क्रोध की न्याईं स्त्री और पुत्र की इच्छा दोनों को भी विवेक से निवृत्त कर देना चाहिये उनमें से स्त्री संबधी विवेक को वसिष्ठ जी ने दर्शाया है :—

"चंचल अंगों के समूह रूप यन्त्र में मांस की पुतली रूप स्नायु अस्थि ग्रंथियों वाली जो स्त्रियां हैं वे किस की न्याईं सुन्दर हैं (यानी उनमें कुछ सौन्दर्य तो है नहीं)।

त्वचा, मांस, रक्त दुःखी श्वास के जल को उसके नेत्रों में पृथक करके सभ्यक विचार करो यदि शोभायमान हो, व्यर्थ क्यों मोहित होते हो?

मुक्ता के हार से प्रकाश स्वभाव वाले जिस स्तन में मेरु के शिखर के किनारे प्रकाशमान गंगाधार की उपमा देखी है।

वह ही ललना का स्तन दूर के समसान में समय पाकर कुत्तों से इस प्रकार आस्वादन किया जाता है, मानों उबले चावल के लड्डू। केश कज्जल धारण करने वाली विषम के स्पर्श वाली प्रिय नेत्रवाली पापरूपी अग्नि की लपट स्वरूप नारियां पुरुषों को ऐसे जलाती है जैसे तृण को अग्नि। यह स्त्री रूप

अग्नि नरक अग्नि से अति दूर भी जलाती है रस युक्त भी प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः विचार दृष्टि से रस रहित यानी सार शून्य है । स्त्रियां अवश्य नरक की अग्नियों की ईंधनरूप हैं, ऊपर से सुन्दर हैं परन्तु महा दुःख रूप हैं कामदेव नाम वाले बधिक ने नारी रूपी पुरुष पखेरुओं के अंगों के बांधने वाले जाल को मूढ़ चित्त वालों के लिये फैलाया है । चित्त रूपी कीचड़ में विचरने वाले जन्म रूप तालाब के मच्छ रूप पुरुषों के लिये दुर्वासना रूपी रस्सी वाला स्त्री का शरीर मानो फांसने का कांटा है ।

दुःख रूप संकल (बेड़ी) वाली सर्व दोष की सन्दूकड़ी रूपी इस स्त्री से मुझे सदा के लिये ही प्रयोजन न हो ।

इधर से मांस, इधर से रक्त, इधर से हड्डी रूप ऐसा स्त्री रूपी विष हे भगवन ! कितने दिनों के लिये ही सुन्दरता को प्राप्त होता है ? जिसके स्त्री है, उसको भोग की इच्छा है, स्त्री बिना पुरुष को पृथवी के भोग कहां हैं, स्त्री को त्याग कर जगत का त्याग हो जाता है, जगत को त्याग कर सुखी होता है ॥इति॥ पुत्र का विवेक ब्रह्मानन्द ग्रन्थ में दिखाया है:—

"अप्राप्त पुत्र दीर्घ काल तक, माता पिता को अपने न होने का क्लेश देता है । प्राप्त भी हो तो गर्भपात द्वारा और प्रसव से पीड़ा देता है ।

जन्म लेने पर ग्रह तथा रोगादिक और कुमार की मूर्खता यज्ञोपवीत होने पर विद्या का न होना और पण्डित होने पर विवाह न होना, युवक होने पर परस्त्री सेवनादिक, और कुटुम्बी होने पर दरिद्रता और यदि धनी होकर मरजावे तब पिता के क्लेश का कुछ अन्त ही नहीं है ॥इति॥

जिस प्रकार विद्या, धन, क्रोध, स्त्री, पुत्र इत्यादिक विषय रूप मलिन वासनाओं का विवेक से बिरोध किया जाता है इसी प्रकार अन्य भोगों में भी यथायोग शास्त्र से और अपनी युक्ति से दोष निकाल कर उनकी निवृत्ति के उपाय करे और प्रतीकार करने पर जीवन्मुक्ति लक्षण वाला परम पद प्राप्त होता है । सोई वसिष्ठ ने कहा है:—

"वासना के सम्यक् परित्याग में, यदि पूर्ण प्रयत्न करोगे तब तुम्हारी सब मानसी चिन्ता और रोग क्षण भरमें शिथिल हो जावेंगे"

पुरुष प्रयत्न द्वारा बल से वासनाओं का सम्यक् त्याग करके यदि तुम स्वतंत्र स्थिति को बांधोगे यानी दृढ करोगे तो पूर्ण पदको प्राप्त होगे।

शंका:—यहां पुरुष प्रयत्न नाम पूर्वोक्त विषय में दोष दर्शन रूप विवेक का है और वह पुनः पुनः किया भी जावे तब भी प्रबल इन्द्रियों के व्यापार से दबादिया जाता है . सो भगवान ने कहा है:—

हे कुन्ति के पुत्र ! यत्न करते हुए विद्वान पुरुष की भी बहुत मथन करने वाली इन्द्रियां बलात्कार से मनको विषयों में लेही जाती हैं । क्योंकि विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस एक इन्द्रिय के अनुसार हो जाता है (पीछे लग जाता है) वह मन इस की बुद्धि को ऐसे दूर हर ले जाता है जैसे वायु जलमें से नाव को दूर हर लेजाता है ।

समाधान:—जब ऐसा है तब तो उत्पन्न हुए नवीन विवेक की रक्षा के लिये इन्द्रियों को निरोध करना चाहिये । सो भी वहीं फिर पीछे से श्लोकों में दर्शा दिया है:—

उन सबको सम्यक् निरुद्ध करके मेरे परायण होकर समाहित स्थित होवे क्योंकि जिस की इन्द्रियां वश में हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ।

इस लिये, हे महा बाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से विरुद्ध हैं उसका तत्वज्ञान स्थिर है । दूसरी स्मृति में भी कहा है:—

यदि न हाथ पांव की चपलता करे न नेत्रों को चपल करे और न वाणी को चपल करे यह शिष्ट का लक्षण है । इसको ही अन्यत्र संग्रह विवर्ण ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया है:—

भिक्षु, जिह्वा रहित, नपुंसक, पंगु, अंधा, बहरा भी और मुग्ध होकर

इन षट् साधनों द्वारा मुक्त हो जाता है, इस में संशय नहीं है। यह इष्ट है, यह इष्ट नहीं है, इस प्रकार जो खाता हुआ भी आसक्त नहीं होता है हितक सत्य और परिमित यानी अल्प संभाषण करता है, उसको जिह्वा रहि कहते हैं।

अब की जन्मी हुई नारी को तथा सोलह वर्ष वाली को और श वर्ष वाली को देखकर जो निर्विकार (एक समान ब्रह्म दृष्टिवाला) है व नपुंसक ही है।

जिसका गमनागमन भिक्षा के लिये है और विष्टा मूत्र करने के लि है जो योजन से अधिक नहीं चलता है वह सर्वथा लंगडा ही है। बैठे हु अथवा चलते हुए भी जिसको नेत्र चार धनुष पृथ्वी को छोड़ कर दूर न जाता है वह सन्यासी अन्धा कहलाता है। जो पुरुष कल्याणकारी अ और मन के आनंद देने वाले बचन को सुनकर भी मानो नहीं सुनता है व वधिर (वहरा) कहा गया है।

विषयों के समीप होने पर और स्वयं समर्थ होने पर जो भिक्षु इन्द्रि की व्याकुलता से रहित है सदा सुषुप्त के सदृश वर्तता है वह भिक्षु मुग (यानी भोला भाला) कहलाता है।

न निन्दा करे, न स्तुति करे, न किसी के रहस्य को प्रगट करे, त अति बोलने वाला न हो सर्वत्र ही सम (यानी पक्षपात रहित ब्रह्म दर्शी होकर रहे।

किसी स्त्री के साथ संभाषण न करे पूर्व देखी हुई को स्मरण न क उनकी वार्ता करना छोड़ दो लिखित मूर्ति को भी न देखे।

जिस प्रकार कोई व्रतधारी केवल रात को भोजन करने वाला उपवा मौनादि व्रत का संकल्प करके उस व्रत को खण्डन न करता हुआ सम्य पालन करता है इसी प्रकार अजिह्वत्वादि व्रत में स्थित हुआ साव होकर विवेक का पालन करे।

सो इस प्रकार विवेक से और इन्द्रियों के निरोध द्वारा जो अभ्यास दीर्घ काल निरन्तर और सत्कार से सेवित हो उससे तथा मैत्री आदिक भावनाओं के स्थिर होने पर असुर संपदा रूप मलिन वासना निवृत्त हो जाती हैं। तव स्वभाविक आते जाते श्वासवत् और पलक वन्द करने खोलने की न्याईं विना पुरुष प्रयत्न के स्वभाविक वर्तने वाली मैत्री आदिक वासनाओं के द्वारा संसार में व्यवहार करता हुआ भी उनकी सम्यक् अथवा असम्यक् रूपता का चिन्तन चित्त से छोड़ कर निद्रा तन्द्रा मनोराज्यादि रूप संपूर्ण चेष्टाओं को शान्त करके चिन्मात्र वासना का अभ्यास करे। आप से आप तो प्रथम यह जगत् चिद् जड दोनों स्वरूप वाला भान होता है। यद्यपि शव्द स्पर्शादि जड वस्तु के ज्ञान कराने के लिये ही इन्द्रियां रखी गई हैं "स्वयंभूने इन्द्रियों की वहिर्मुख रचना की" यह श्रुति प्रमाण है तो भी चैतन्य तो (अधिष्ठान रूप) उपादान है इस लिये उसका छूटना असंभव है। इस लिये (अध्यस्त) जड का भान, चैतन्य पूर्वक ही होता है, "उसके प्रकाश से ही यह सव प्रकाशता है" यह श्रुति प्रमाण है ऐसा होने पर पीछे नामरूप से अध्यस्त होने वाले प्रथम भासमान चैतन्य को तात्विक रूप निश्चय करके जड़ की उपेक्षा करके चिन्मात्र वासना को चित्त में दृढ़ करे। और यह वलि शुक्र के प्रश्न उत्तर द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है:—

"यहां क्या है यह कितना मात्र है और इसका क्या स्वरूप है" तुम कौन हो, मैं कौन हूं, और यह लोक क्या हैं यह मुझे कहिये। यहां चिद् ही है यह चिन्मात्र है और चिद् रूप है। तू चिद् है मैं चिद् हूं और यह लोक चिद् है यह संक्षिप्त कथन है ॥इति॥

जिस प्रकार सुनार कड़े को वेचता हुआ भी घडाई के गुण दोषों की उपेक्षा करके उसके भारीपने के तोल में और रंगत में मन को लगाता है इसी प्रकार चिन्मात्र में मन को लगाना चाहिये। जितने काल तक जड की

सर्वथा उपेक्षा करके चिन्मात्र में मन की प्रवृत्ति निःश्वासादिक की न्याईं स्वाभाविक ही होवे उस समय तक चिन्मात्र वासना में यत्न पूर्वक अभ्यास करे।

शंकाः—प्रथम से ही चिन्मात्र वासना का अभ्यास रहो इस मैत्री आदिक के अभ्यास के बीच में पड़ने से क्या लाभ है ?

समाधानः—यह कथन ठीक नहीं है चिन्मात्र वासना, स्थिर नहीं रह सकेगी यह प्रसंग आजावेगा। जिस प्रकार नीव को दृढ़किये बिना बनाया हुआ भी थम्बा दीवालादिक का घर स्थिर नहीं रह सकता है। अथवा जिस प्रकार बिना विरेचन द्वारा प्रबल दोष के निवृत्त किये हुए सेवन की हुई भी औषधी आरोग्य दाता नहीं होती है तद्वत् (बिना मैत्री आदिक वासना के चिन्मात्र वासना स्थिर नहीं रह सकेगी)।

शंकाः—"पीछे उस चिन्मात्र वासना को भी परित्याग करे" यहां चिन्मात्र वासना का भी परित्याग होना जाना जाता है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि चिन्मात्र को परित्याग करके अन्य कोई ग्राह्य तो रहा नहीं।

समाधानः—यह दोष नहीं है। दो प्रकार की चिन्मात्र वासना होती हैं। एक तो मन बुद्धि सहित चिन्मात्र वासना और दूसरी मन बुद्धि रहित चिन्मात्र वासना। मन करण है बुद्धि कर्त्ता पने की उपाधी है। ऐसा होने पर प्रमाद रहित होकर "मैं एकाग्र मन से चिन्मात्र भावना करूंगा" ऐसी कर्ता करण के चिन्तन युक्त जो पहली चिन्मात्र वासना ध्यान नाम से कही थी (दृढ़ अभ्यास करने के पश्चात्) उसका परित्याग करे। जो तो अभ्यास की कुशलता से कर्तृत्वादिक के चिन्तन के व्यवधान से रहित समाधि नाम वाली चिन्मात्र वासना है उसको ग्रहण करे। ध्यान और समाधी के लक्षण तो पतंजली ने सूत्र में कहे हैं:—"उस में वृत्ति का एक धारावाही प्रवाह ध्यान है। वही ध्यान ध्येय मात्र से निरन्तर भासने वाला स्वरूप शून्य की न्याईं (यानी ध्याता ध्यान से रहित के सदृश) समाधि है॥ इति॥ वैसी

दीर्घ काल निरन्तर सत्कार से सेवन की हुई समाधी में स्थिरता को प्राप्त करके पीछे कर्ता करण के चिन्तन के त्याग के लिये जो प्रयत्न है उसको भी परित्याग करे।

शंकाः—ऐसा हो तो, उसके त्याग के प्रयत्न को भी परित्याग करें। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा।

समाधानः—ऐसा मत कहो। निर्मली का चूर्ण जिस प्रकार होता है उस न्याय से स्व पर दोनों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे मलिन जल में डाला हुवा निर्मली का चूर्ण, अन्य धूलि के सहित, स्वयं अपने आपको भी निवृत्त कर देता है इसी प्रकार त्याग के लिये किया हुवा प्रयत्न, बुद्धि मनके चिन्तन को निवृत्त करके अपने आपको भी निवृत्त कर देगा। उसके निवृत्त होने पर मलिन वासना की न्याई, शुद्ध वासनाओं के भी क्षीण होने से मन निर्वासनीक होकर स्थित होता है। इसी अभिप्राय से, वसिष्ठ जी ने कहा है:—

"इस लिये मन वासना से बद्ध है, और वासना से रहित मुक्त है, हे राम, निर्वासनीक भाव को शीघ्र ही विवेक से प्राप्त करो॥ सत्य के सम्यक् आलोचन दर्शन से, वासना लीन हो जाती है, वासना के लीन होने पर, चित्त दीपक वत् शान्त हो जाता है। इति॥ जो जाग्रत व्यवहार में, सुषुप्ति में स्थित है अर्थात् निर्विकल्प है जिस के द्वैत रूपी जाग्रत नहीं रही है, जिसका बोध वासना से रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ यह भी कहा है।

"जिसने सुषुप्ति वत् प्रशान्त भाव वाली वृत्ति से, निर्विकार ब्रह्माकार चित्त से, बोध रूपी जाग्रत में सदा स्थिति की है, और पूर्ण कलायुक्त चन्द्रमा की न्याई, जो सदा ज्ञानियों से सेवित होता है, वह यहां, मुक्त कहा गया है॥ यह भी कहा है।

"हे महामति, हृदय से सब को ही परत्याग कर के, जो चंचलता से रहित स्थित है, वह मुक्त है, परमेश्वर है॥

समाधी को और अन्य कर्मों को वह करे अथवा न करे, हृदय से सर्व आशाओं से रहित, वह उत्तम हृदय वाला पुरुष, मुक्त है। उसका कर्म त्याग से कोई प्रयोजन नहीं है, और न कर्मों से कोई प्रयोजन है, न समाधी जप से प्रयोजन है, जिसका मन निर्वासनीक है ॥

शास्त्र का पूर्ण विचार किया और परस्पर ग्रहण कराया, (तब यह निश्चय किया कि) वासना त्याग पूर्वक मौन से विना उत्तम पद नहीं है ॥ यह भी कहा है।

और निर्वासनीक मन वाले का, जीवन का हेतु व्यवहार, लुप्त हो जावेगा यह शंका नहीं करना। क्या चक्षु आदिक के व्यवहार का लोप होगा अथवा मानसी व्यवहार का लोप होगा। उन दोनों पक्षों में से, प्रथम पक्ष का तो उद्दालक खण्डन करता है :—

"वासना रहित भी यह चक्षु आदिक इन्द्रिय, स्वभाव से ही बाह्य कार्य में प्रवृत्त होते हैं, इसमें वासना कारण नहीं है। इति ॥ दूसरे पक्ष का वसिष्ठ जी खण्डन करते हैं :—

"जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय विना यत्न के उपस्थित दिशा और द्रव्यों में फिर फिर विना राग के ही गिर जाती है इसी प्रकार धीर की बुद्धि कार्यों में चली जाती है" ॥ इति ॥ निर्वासनीक हुई वैसी बुद्धि से प्रारब्ध के भोग को वहीं वसिष्ठ जी कथन करते हैं:—

"विचार द्वारा उपभोग किया हुआ भोग विषय तुष्टि का हेतु होता है जान कर सेवन किया हुआ चोर मित्र होजाता है अपनी चोरी नहीं करता है। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले को ग्राम की यात्रा विना संकल्प किये ही संप्राप्त होकर दिखाई देती है इस प्रकार ही ज्ञानी जन भोग और श्री यानी विभूति का अवलोकन करते हैं।"

भोग काल में भी सवासनीक पुरुष से निर्वासनीक पुरुष की विशेषता को कथन करते हैं:—

जिस प्रकार स्वर्ण का बनाया हुआ कमल रात को संकुचित नहीं होता है इसी प्रकार निर्वासनीक पुरुष आपत्ति काल में हर्ष के अभाव को नहीं प्राप्त

होता है। स्वाभाविक आचार से भिन्न अन्य चेष्टा को नहीं करता है शिष्ट पुरुषों के मार्ग में रमण करता है।

चन्द्रमा की सुन्दरता की न्याईं अन्तर क्षोभ से रहित नित्य पूर्णता को आपत्तिकाल में भी ऐसे नहीं त्यागता है जैसे चन्द्रमा शीतलता को नहीं त्यागता है।

दुर्गम आशय वाले जन समुद्रवत् मर्यादा धारी होते हैं महान् पुरुष इस प्रकार मर्यादा को नहीं छोड़ते हैं जिस प्रकार सूर्य ॥इति॥ समाधी से उत्थान को प्राप्त जनक के भी ऐसे ही आचरण को कहते हैं:—"समाधि के पीछे दीर्घ काल तक तूष्णी (चुपचाप) स्थित होकर, जनों के आजीविका रूप जनक ने व्युत्थान को प्राप्त होकर शम के स्वभाव वाले मन द्वारा यह चिन्तन किया।

यहां क्या ग्रहण करने योग्य है, यत्न से क्या संसिद्ध करूं। स्वतः स्थित मुझ शुद्ध चैतन्य को क्या कल्पना है।

मैं असंप्राप्त की इच्छा नहीं करता हूं और संप्राप्त को त्यागता नहीं हूं। आत्मा यानी स्वस्वरूप में स्थित हूं (व्यवहार दृष्टि से) जो मेरा है सो मेरा रहो।

ऐसा चिन्तन करके यह जनक आसक्ति से रहित होकर यथा प्राप्त क्रिया को करने के लिये इस प्रकार उठ खडा हुआ जिस प्रकार सूर्य दिन की क्रिया करने को उठे।

वह जनक भविष्यत् का चिन्तन नहीं करता है और व्यतीत का स्मरण नहीं करता है। परन्तु वर्तमान क्षण के अनुसार हंसता हुआ वर्त लेता है॥ इति॥

सो इस प्रकार यथोक्त वासना क्षय द्वारा यथोक्त जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है यह दृढ़ निर्णय होगया।

॥ इति वासना क्षय निरूपण ॥

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ।

अथ तृतीय मनोनाश प्रकरण

अब जीवन्मुक्ति का साधन जो मनो नाश है, उसका निरूपण करते हैं। यद्यपि, संपूर्ण वासनाओं के नाश होने पर अर्थ से मनो नाश हो ही जाता है तो भी स्वतन्त्र मनोनाश का सम्यक् अभ्यास होने पर वासना क्षय की रक्षा होती है। अजिव्हत्व, और पुंस्त्व के अभाव से ही वासना के नाश की रक्षा सिद्ध होजावेगी यह न कहना। मन के नाश होने पर अजिव्हत्वादिक अर्थ से सिद्ध होजाते हैं, इसलिये अलग से अभ्यास का परिश्रम नहीं करना होता।

शंकाः—मनोनाश का अभ्यास तो अजिव्हत्वादिक के अभ्यास में भी है।

समाधानः—ऐसा कहते हो तो अजिव्हत्वादिक निसन्देह आवश्यक रहो क्योंकि यह आवश्यक है परंतु बिना मनोनाश के अभ्यास के अजिव्हत्व आदिक अस्थिर होते हैं। इसी लिये, मन के नाश की आवश्यकता को, जनक कहते हैं:—

"सहस्र अंकुर शाखा रूप फल पत्ते वाले इस संसार वृक्ष का मूल मन है, यह निर्णीत है। उस मन का मूल, मैं, संकल्प को ही मानता हूं यह स्थित है यानी निर्णीत है।

उस मनको मैं संकल्प रूप ही मानता हूँ, संकल्प के निरोध से जिस प्रकार संसार वृक्ष सूखें जावे वैसे मैं उस मनको सुखा दूंगा। मैं प्रबुद्ध हूं, सम्यक् ज्ञात हूं, मैंने अपना चोर देख लिया है, जिसका नाम मन है, मैं इस को मारूंगा, मैं दीर्घ काल से मन द्वारा हनन किया गया हूं ॥इति॥

श्री वसिष्ठजी ने भी कहा है:—

सर्व उपद्रव के देने वाले इस संसार वृक्ष के विनाश के लिये एक ही उपाय है अपने मनका निग्रह।

मनका उदय होना अपना विनाश है, और मनका नाश होना अपनी उन्नति है। ज्ञानी का मन नाश को प्राप्त होता है मन अज्ञानी की बेड़ी है।

रात्री में प्रेतों की न्याईं तब तक हृदय में वासना नृत्य करती है, जब तक एक तत्व के दृढ़ अभ्यास से मनका विजय नहीं हुआ। जिसके चित्त का दर्प नष्ट हो गया और इन्द्रिय रूपी शत्रु जिसने निग्रह कर लिये उसके भोग की वासना हेमन्तऋतु में कमल की न्याईं नष्ट हो जाती हैं। हाथ से हाथ को मसल करके और दांतों से दांतों को पीस कर अंगों से अंगों को भिड़ा कर प्रथम अपने मन को विजय करो। पृथ्वी के ऊपर इतने ही सुबुद्धि पुरुष हैं, और वे ही पुरुषों की कथा में गिने जाने योग्य हैं, जिन को अपने चित्त ने वश में नहीं किया। हृदय रूपी बिल में कुण्डल मारे हुए तीक्ष्ण संकल्प विकल्प रूप विषवाला मन रूपी सर्प जिस विद्वान का उपशान्त हो गया चांद की न्याईं प्रकाशमान उस अविनाशी पुरुष को मैं नमस्कार करता हूं। इस माया चक्र के मध्य का काष्ठ निश्चय करके यह चित्त है उस चित्त को आक्रमण यानी निग्रह करके यदि सब ओर से स्थिति हो जावे, तब वह माया चक्र किंचित हानि नहीं करता है" ॥इति॥

गौड़ पादाचार्य ने भी कहा है:—

सर्व योगियों का अभय होना मन के निग्रह के आधीन है उससे दुःख का नाश होता है, ज्ञान होता है, और अक्षय शान्ति भी होती है। अर्जुन ने कहा है:—

हे कृष्ण, क्योंकि मन चंचल है, अत्यन्त मथने वाला है बलवान और पुष्ट है मैं उसका निग्रह वायु के निग्रह की न्याईं कठिन मानता हूं।

यह निग्रह की कठिनाई का वचन हठ योग के विषय में है, इसी लिये वसिष्ठ जी ने कहा है:—एक चित्त वाले पुरुष से बारम्बार बैठ बैठ कर बिना अनिन्दित युक्ति के (हठ से) मन नहीं जीता जा सकता है।

जिस प्रकार मतवाला हुआ, दुष्ट हस्ती बिना अंकुश के जीता नहीं जा सकता है, इसी प्रकार बिना युक्ति के मन नहीं जीता जा सकता है।

मनोनाश की हेतु युक्तियों का सम्यक् कथन वसिष्ठजी ने किया है, जिस अभ्यास से उस में निष्ठावाले का मन वश में होता है। हठ से और युक्ति से भी दो प्रकार से मनका निग्रह माना है, गोलक के निग्रह से (आंख बन्द कर लेना कान में अंगुली लगा लेना इत्यादिक रीती से) ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों का निग्रह करना हठ है।

कोई मन कभी निग्रहीत हो जाता है उससे भ्रान्त हो जाता है, (कि हठ से ही मन का निग्रह होता है यही उपाय उत्तम है परन्तु वस्तुतः निग्रह नहीं होता है) (१) आत्मा को बोध न करने वाली विद्या की प्राप्ति, (२) और साधु समागम भी (३) वासनाओं का सम्यक् परित्याग (४) और प्राणों के स्पन्द का निरोध यानी प्राणायाम अभ्यास।

निश्चय करके चित्त के विजय में सो यह दृढ़ युक्तियां हैं। इन चारों युक्तियों के होते हुए जो मन का हठ से निग्रह करते हैं, वे दीपक को त्याग कर तम का अंजन से नाश करते हैं।

जो अज्ञानी जन, हठ से चित्त के विजय करने का उद्योग करते हैं, वे जन उन्मत्त नागेन्द्र को बिष की तन्तुओं से यानी कमल कंद के तारों से बांधते हैं ॥इति॥

निग्रह दो प्रकार का होता है, हठ से निरोध करना और क्रम से यानी युक्ति द्वारा, धीरे से निरोध करना उन दोनों पक्षों में से चक्षु श्रोत्रादि ज्ञान इन्द्रिय और वाक् पाणी आदिक कर्म इन्द्रियें, उन उन इन्द्रियों के गोलकों के (यानी नेत्रादि स्थानों के) निरोध मात्र से हठ द्वारा निरुद्ध हो जाती हैं उसी प्रकार के इन्द्रिय निग्रह के दृष्टान्त को लेकर वैसे ही मन को भी निरुद्ध करूंगा, यह मूढ़ की भ्रांति ही है वह मन तो निरुद्ध होता ही नहीं

है, क्योंकि उस के गोलक रूप हृदय कमल का निरोध करना असंभव है। इस लिये क्रम से निग्रह करना ही योग्य है। और क्रम निग्रह में अध्यात्म विद्या की प्राप्ति आदिक उपाय हैं। (१) और वह विद्या, दृश्य की मिथ्या रूपता को और चिद् वस्तु की ज्ञान स्वरूपता का ज्ञान कराती है। और ऐसा होने से यह मन अपने विषय भूत दृश्य में प्रयोजन के अभाव को और प्रयोजन की योग्यता वाले चिद् वस्तु में अज्ञातता को समझ कर ईंधन रहित अग्नि की न्याईं शान्त हो जाता है (यानी वृत्ति रहित निरुद्ध हो जाता है) सोई श्रुति प्रसिद्ध है:—

"जिस प्रकार ईंधन से बिना अग्नि अपने कारण रूप तेज सामान्य में स्वयं शान्त हो जाती है इसी प्रकार वृत्तियों के नाश होने से चित्त अपने कारण रूप चिदात्मा में उपशान्त हो जाता है, यानी निरुद्ध होता है ।।इति।। योनिः = आत्मा। जो पुरुष तो बोधित कराये जाने पर भी तत्व को सम्यक् नहीं समझता और जो भूल जाता है, उन दोनों के लिये (२) दूसरा साधु संग ही उपाय है। क्योंकि साधु जन, पुनः पुनः बोधन कराते हैं और स्मरण भी कराते हैं। जो पुरुष तो विद्या मद आदिक दुर्वासना से पीड़ित होकर साधुजनों के अनुसार वर्तने का उत्साह नहीं करता है उसके लिये पूर्व कथन किये हुए विवेक द्वारा (३) तीसरा वासनाओं का परित्याग ही उपाय है। क्योंकि वासना अति प्रबल है यदि उनका त्यागना असंभव है। (४) तो चतुर्थ प्राणों के स्पन्द का निरोध करना उपाय है। प्राणों का स्पन्दन यानी प्राण क्रिया और वासना दोनों चित्त के प्रेरक हैं, इस लिये उन दोनों के निरोध से चित्त का निरोध संभव हो जाता है। प्राण और वासना चित्त के प्रेरक स्वरूप हैं, इसको वसिष्ठ जी ने कहा है:—

"वृत्तियों रूपी लता को धारण करने वाले चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं एक तो प्राणों का चलते रहना और दूसरा दृढ़ वासना चैतन्य सर्व व्यापक होने से प्राण स्पंद रूप से (स्फुरता है) जाग्रत को प्राप्त होता है पीछे

संवेदन से (यानी वृत्तियों के विस्तार से) चित्त को बेअन्त दुःख होते हैं । इति॥

जिस प्रकार भस्म से आच्छादित (राख से ढकी हुई) अग्नि को लोहार चर्म की धोंकनी से धौंकता है, वहां चर्म से उत्पन्न हुई वायु से वह अग्नि प्रज्वलित होती है । इसी प्रकार काष्ठ के बदले में चित्त के उपादान कारण अज्ञान से आवरण युक्त हुआ चैतन्य प्राणों की क्रिया रूप से जाग्रत होकर चित्त की वृत्ति रूप से प्रज्वलित होता है । उस चित्त वृत्ति नामक वृत्ति ज्ञान रूप ज्वाला के प्रकट होने से दुःख उत्पन्न होते हैं । सो यह प्राणों की क्रिया से प्रेरित हुई चित्त की उत्पत्ति है । दूसरे वासना जन्य उसी चित्त को कहा है:—

"हे राघव, वासना से उत्पन्न हुई, पदार्थ के ज्ञान से प्रकट हुई और अनुभूत हुई चित की परम उत्पत्ति को श्रवण करो ।

जिस भोग का दृढ़ अभ्यास किया हुआ है उस एक की दृढ़ भावना से अति चंचल हुआ चित्त जन्म मरण का कारण बन जाता है" ॥इति॥ केवल प्राण और वासना चित्त के प्रेरक नहीं हैं, किंतु वे दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रेरक भी हैं । सो वसिष्ठ जी ने कहा है:—"चित्त बीज की वासना के आधीन प्राणों की क्रिया होती है उस प्राण क्रिया से वासना उत्पन्न होती है उस परस्पर के प्रेरक प्रेरित भाव से बीज अंकुर क्रम होता है । (चित्त रूपी बीज के दोनों अंकुर वासना और प्राण स्पंद हैं जो दोनों एक दूसरे को प्रेरते हैं और एक की प्रेरना से दूसरे की उत्पत्ति प्रादुर्भाव होता है, इस लिये चित्त से वे दोनों भाव होते हैं और उन दोनों से चित्त होता है, इस प्रकार, बीजांकुर क्रम, यानी कार्य कारण भाव वर्तमान रहता है) ॥

इसी लिये दोनों में से एक के नाश से, दोनों के विनाश को भी, कहा है:—

चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं, प्राणस्पन्द और वासना, दोनों में से एक के नाश से शीघ्र ही दोनों का भी नाश होता है ॥" इति ॥

उन दोनों के नाश के उपाय को, और नाशके फल को भी, कहा है:—
"प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, और गुरु की प्रदान की हुई युक्ति से आसन और आहार के यथोचित साधन योग से, प्राणों का स्पन्द निरुद्ध होता है। निर्लेपता के व्यवहार से, (दृश्य नहीं है इस प्रकार) संसार भावना के त्याग से, शरीर को नाश मान जाननें से, वासना उदय नहीं होती है।

वासना के सम्यक् परित्याग से, चित्त अचित्त भाव को प्राप्त होजाता है, और प्राणस्पन्द के निरोध से भी, चित्त अचित्त हो जाता है, इन दोनों में से जो इच्छा हो, सो करो ॥

हे राघव, चित्त का रूप, मैं इतना मात्र ही मानता हूं, जो हृदय में, सत्य समझ कर और राग पूर्वक वस्तु की भावना करनी है। जो ग्रहण त्याग करनें योग्य स्वरूप वाली वस्तु है, जब उस की कुछ भावना न हो और सम्पूर्ण को त्याग कर स्थिति होवे, तब चित्त उत्पन्न नहीं होता है। निरन्तर वासना रहित होने से, जब मन मनन नहीं करता है, तब अमनस्क भाव को प्राप्त होता है, जो परम शान्ति को देने वाला है" ॥इति॥ अमनस्ता के उदय न होने में, शान्ति के अभाव को कहते है:—

"चित्त रूपी यत्न से, दृढ वशी कृत हुए पुरुष की, न मित्र न बान्धव, न गुरु और न मनुष्य, रक्षा कर सकते हैं ॥" इति ॥

"आसन और आहार के साधन रूप योग से" यह जो कहा, वहां, आसन के लक्षण उपाय और फल को, तीन सूत्रों द्वारा, पातञ्जली कहते है:—"स्थिर सुख पूर्वक स्थिति को, आसन कहते हैं" "प्रयत्न की शिथिलता से, और अनन्त में संयम से, आसन का जय होता है" "उस आसन के जय से, द्वन्दों से अभिघात नहीं होता है ॥" इति ॥ पदल्लक् स्वस्तिकादि

जिस प्रकार के देह के स्थापन रूप अभ्यास से, जिस पुरुष के अंगों में पीड़ा की अनुत्पत्ति रूप सुख हो, और देह की अचलता रूप स्थिरता, प्राप्त हो, उस का, वही मुख्य आसन है। उस के लिये प्रयत्न की शिथिलता मुख्य उपाय है चलना, गृह का कार्य, तीर्थ यात्रा, स्नान, याग, होमादि विषय को लेकर जो प्रयत्न यानी मानस उत्साह है उस को शिथिल कर देना चाहिये ऐसा न होगा तो वह उत्साह, बल पूर्वक देह को उठाकर जहां कहीं भी उस को लगा देगा। और अलौकिक उपाय यह है कि जो हजार फण पर पृथ्वी को धार कर, स्थिरता युक्त स्थित यह अनन्त यानी शेष नाग है, वह मैं हूं, यह ध्यान, चित्त की अनन्त में समापत्ति या धारणा है। उस अभ्यास से पूर्व कथनानुसार आसन को सिद्ध करने वाला अदृष्ट यानी संस्कार विशेष उत्पन्न होता है। आसन के सिद्ध होने पर शीत, उष्ण सुख दुःख मान अपमानादि द्वन्दों की पूर्व की न्याईं चोट नहीं लगती है। उस प्रकार के आसन के योग्य देश को श्रुति कहती है:—

"और एकान्त देश में, सुख पूर्वक आसन में स्थित हुआ पवित्र होकर ग्रीवा शिर और शरीर को समान यानी सीधा रखे॥" इति॥ समान यानी सीधा होकर पवित्र बजरी, अग्नि वालू रेता आदिक से रहित तथा 'जलाशय नदी आदिक के शब्द से रहित स्थान में, जहां मन की अनुकूलता हो परन्तु मच्छरादिक न हों, बात रहित गुहादिक स्थान में, अभ्यास करे" यह भी कहा है। सो यह आसन योग कहा। आहार साधन का योग तो परिमित यानी माप का आहार होना है।

"योगी सदा अधिक आहार और अनाहार को छोड़ दे"॥ यह श्रुति प्रमाण है। भगवान ने भी कहा है:-अत्याहारी के लिये तो योग नहीं है और किंचित न खाने वाले के लिये भी योग नहीं है, अति निद्रा वाले के लिये भी योग नहीं है और न योग जागने वाले ही के लिये है। शास्त्रानुसार साधी हुई है आहार और विहार यानी इन्द्रियों की क्रिया जिस ने, और

सधी हुई है कर्मों में प्रवृत्ति जिस की, उस यथोचित सोने जागने वाले का योग हे अर्जुन! दुःख नाशक सिद्ध होता है।" इति ॥

जितासन पुरुष के प्राणायाम द्वारा मनोनाश को, श्वेताश्वतर उपनिषद रूप शाखा वाले कहते हैं:—

शिरकाय और ग्रीवा तीनों को उठाकर शरीर को सीधास्थित करके मन सहित इन्द्रियों को हृदय में निग्रहीत करके ब्रह्मध्यान रूपी नौका द्वारा, विद्वान, सर्व भय देने वाली इन्द्रिय रूपी नदियों को तर जावे। वह पुरुष, विचार युक्त चेष्टा (व्यवहार के) परायण होकर यहां अभ्यास में प्राणों को कष्ट देकर प्राणों के क्षीण (सूक्ष्म) होने पर्यंत नासिका द्वारा श्वास लेवे। विद्वान प्रमाद रहित होकर, इस प्रकार मन को निग्रह करे जिस प्रकार दुष्ट घोड़ों से जुड़े हुए रथादिक को निग्रह करते हैं ॥इति॥ योगी दो प्रकार का होता है एक तो विद्यामद आदिक आसुरी संपदा रहित और दूसरा आसुरी संपदा सहित। इन दोनों में प्रथम पुरुष का ब्रह्म ध्यान द्वारा मन के निरुद्ध होने पर उसके साथ ही साथ प्राण का भी निरोध हो जाता है उसके लिये तो प्रथम मन्त्र "शिर काया ग्रीवा को उठाकर" यह मन्त्र पढ़ा है। दूसरे अधिकारी का प्राण के निरोध होने पर उसके साथ साथ ही, मन का निरोध होजाता है। उस के प्रति "प्राणों को कष्ट देकर" यह दूसरा मन्त्र प्रवृत्त हुआ है। प्राण के कष्ट देने के यानी निरोध के प्रकार को कहते हैं, उसको पीड़ित करने से युक्त चेष्टा वाला होता है। मन की प्रवृत्ति विद्यामदादिक रुक जाती हैं, प्राण के निरुद्ध होने से चित्त के निरोध होने में जो दृष्टान्त है सो अन्य स्थान में श्रुति में कहा है:—"जैसे पर्वत के जलने से धातु के मल जल जाते हैं इसी प्रकार प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के किये दोष दग्ध हो जाते हैं" ॥इति॥

इस में वसिष्ठ ने युक्ति दर्शाई है:—

"जो प्राण वायु की क्रिया है वही चित्त की चेष्टा है प्राण स्पन्द के नाश करने में अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धिमान को प्रयत्न करना योग्य है" ॥इति॥

मन वाणी तथा चक्षु आदिक के देवता "हम अपना अपना व्यापार करेंगे" यह नियम धारण करके (भोग के पीछे) परिश्रम रूप मृत्यु से ग्रस्त होते हैं वह मृत्यु प्राण को नहीं प्राप्त हुआ इसी लिये श्वास लेने देने की क्रिया को करते हुए भी प्राण थकता नहीं है।

तब विचार करके इंद्रियों के देवताओं ने प्राण के रूप को धारण किया, यही अर्थ वाजसनेयी शाखा वाले अध्ययन करते हैं:—निश्चय करके हम सब में से वही श्रेष्ठ है जो जाता और आता हुआ व्यथा को नहीं प्राप्त होता है जो नाश को प्राप्त नहीं होता है अब हम सब इस प्राण के रूप को प्राप्त होते हैं। सब देवता इस प्राण के ही रूप को प्राप्त हो गए इस लिये यह देवता इस प्रवेश के कारण प्राण नाम से ही कहलाते हैं" ॥इति॥ इस लिये इंद्रियों की प्राण रूपता प्रसिद्ध प्राण के आधीन चेष्टा का होना है वही बात अन्तर्यामी ब्राह्मण में सूत्रात्मा के प्रसंग में श्रवण होती है:—"हे गौतम निश्चय करके वायु ही वह सूत्र है, हे गौतम! वायु रूप सूत्र से ही यह लोक और परलोक और संपूर्ण भूत प्राणी बंधे होते हैं। इस लिये हे गौतम! निश्चय करके मृतक पुरुष के विषय में कहते हैं कि इस के अंग ढीले हो गये हैं, हे गौतम! वायु रूप सूत्र से ही गठे हुए होते हैं ॥इति॥ इसलिए प्राण और मन की चेष्टा इन दोनों के साथ साथ ही रहने के कारण प्राण के निग्रह से मन का निग्रह हो जाता है।

शंका:—साथ साथ मन और प्राण दोनों की क्रियाओं का होना ठीक नहीं है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में प्राणों की क्रिया होते हुए भी मनकी क्रिया नहीं होती है।

समाधान:—यह शंका नहीं बनती है क्योंकि तब सुषुप्ति अवस्था में तो मन का ही अभाव हो जाता है।

शंका:—प्राणों के क्षीण हो जाने पर नासिका द्वारा श्वास लेवे, इस कथन में विरोध है। क्षीण प्राण वाले मृतक पुरुष के कहीं श्वास को नहीं

देखते हैं । और श्वास लेते हुए जीवित पुरुष के प्राणों का भी नाश नहीं होता है ।

समाधानः—ऐसी बात नहीं है । क्योंकि यहां क्षय रूप से मन्दता का ही कथन करना इष्ट है । जिस प्रकार खोदने काटने में लगे हुए पुरुष के अथवा पर्वत पर चढ़ते हुए अथवा शीघ्र दौड़ते हुए पुरुष के जितना श्वास का वेग होता है उतना खड़े हुए या बैठे हुए पुरुष के श्वास का वेग नहीं होता है इसी प्रकार प्राणायाम में कुशलता युक्त उस पुरुष के सूक्ष्म श्वास होता है । इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है:—उस कुंभक में निग्रहीत प्राण होकर धीरे से ही श्वास निकाले यानी सहज से रेचक करे ।

जिस प्रकार दुष्ट घोड़ों से जुड़ा हुआ रथ मार्ग को छोड़कर जहां कहीं ले जाया जाता है और उसी रथ को सारथी बाग डोर से घोड़ों को कड़ा खेंच कर फिर मार्ग पर डाल देता है इसी प्रकार इंद्रिय और वासनाओं आदिक से इधर उधर ले जाया हुआ मन प्राण रूपी रज्जु को खींच कर रोकने से रुक जाता है ।

"प्राणों को कष्ट देकर" यह जो कहा वहां प्राणों को पीड़ित करने का प्रकार अन्यत्र श्रवण किया है:—

"व्याहृति सहित, प्रणव सहित और शिरोमन्त्र के सहित निग्रहीत प्राण होकर गायत्री तीन बार पढ़े, सो प्राणायाम कहलाता है । प्राणायाम तीन प्रकार के कहे हैं रेचक, पूरक और कुंभक हृदयाकाश में स्थित वायु को बाहर निकाल कर वायु रहित शून्य करके शून्य भाव से अभ्यास करे यह रेचक का लक्षण है ।

जिस प्रकार मुख से कमल की नाल द्वारा पुरुष जल को खींचता है, इसी प्रकार वायु ग्रहण करना चाहिये यह पूरक का लक्षण है ।

न श्वास को निकाले न भीतर लेवे न गात्र के अंगों को ही हिलावे इस प्रकार तब तक रोकने का अभ्यास करे, यह कुंभग का लक्षण है ।।इति।। इस प्राणायाम के अभ्यास में शरीर के अन्तर्वर्ती वायु को बाहर निकालने के लिये उठा कर शरीर के आकाश को शून्य निरात्मक वायु रहित करके थोड़ी वायु प्रवेश भी न करके शून्य भाव से निग्रह करे । सो यह रेचक होता है । कुंभक दो प्रकार का होता है अन्तर कुंभक और बाहर कुंभक उन दोनों को वसिष्ठ जी ने कहा है:—

"अन्तर अपान के शान्त (निरुद्ध) होने पर जब तक प्राण का हृदय में उदय न हो (यानी जब तक बाह्य की ओर श्वास के रेचक से प्राण का उदय न हो) तब तक वह अन्तर कुम्भक की अवस्था है जो योगियों के अनुभव में आती है । प्राण के बाह्य अस्त होने पर जब तक अपान न उठे (यानी जब तक अन्तर श्वास न लेवे) तब तक जो पूर्ण सम अवस्था है उसको बाह्य कुंभक जानते हैं ।।इति।।"

उन दोनों में रेचक अन्तर कुंभक का विरोधी है; श्वास लेना बाह्य कुंभक का विरोधी है गात्र को हिलाना दोनों का विरोधी है क्योंकि गात्र के हिलाने से अन्तर श्वास अथवा बाह्य श्वास दोनों में से एक तो अवश्य होता ही है ।

पातञ्जलि भी आसन के पीछे होने वाले प्राणायाम को सूत्र में कहते हैं:—"आसन जय के होने पर श्वास और प्रश्वास की स्वभाविक गति के न्यूनाधिक करने को प्राणायाम कहते हैं" ।। इति ।।

शंका:—कुंभक में गति के अभाव होने पर भी रेचक पूरक में श्वास निकालने और श्वास लेने की क्रिया रहती है ।

समाधान:—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अधिक मात्रा के अभ्यास से स्वभाव सिद्ध जो एक रस समान प्राण की गति है वह रोक दी जाती है ।

उसी अभ्यास को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"प्राणायाम का अभ्यास वाह्य वृत्ति यानी रेचक अभ्यन्तर वृत्ति यानी पूरक और स्तंभ वृत्ति यानी कुंभक के भेद से देश और काल परिमाण तथा प्रणवादिक की संख्या परिमाण इन के भेद से परीक्षित किया हुआ, दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।।इति।। वाह्य वृत्ति श्वास निकालने का नाम रेचक है । अन्तर वृत्ति निःश्वास लेने का नाम पूरक है, और स्तम्भ वृत्ति कुंभक है, उनमें से एक एक प्राणायाम की देशादि के परिमाण द्वारा परीक्षा करनी योग्य है:—

सो जिस प्रकार स्वभाव सिद्ध रेचक के हृदय से बाहर निकलने पर नासा के अग्र भाग के संमुख बारह अंगुल पर्यन्त श्वास समाप्त हो जाता है अभ्यास द्वारा क्रम से नाभी देश तक अथवा आधार चक्र वाले मेंढ्र देश तक वायु अठता है, चौबीस अंगुल पर्यन्त अथवा छत्तीस अंगुल पर्यन्त समाप्ति होती है । यहां रेचक प्राणायाम में प्रयत्न की अधिकता के होने पर नाभी आदिक देश में क्षोभ होने से अन्तर का निश्चय हो सकता है । बाहर तो सूक्ष्म रूई को रख कर उस के हिलने से निश्चय हो सकता है । सो यह देश परीक्षा है । रेचक काल में प्रणव की आवृत्तियों का दस बीस अथवा तीस होना इत्यादिक काल परीक्षा है । यानी इस मास में, प्रति दिन दश रेचक करना, अगले मास में बीस, उस से अगले में तीस, इत्यादिक काल परीक्षा द्वारा संख्या की परीक्षा भी होजाती है । यथोक्त देश काल वाले प्राणायाम, एक दिन में दश बीस तीस होना इत्यादिक गणना द्वारा संख्या परीक्षा है । पूरक में भी ऐसे ही जोड़ लगा लेना । यद्यपि कुंभक में देश की व्याप्ति विशेष नहीं जानी जाती है तो भी काल और संख्या की व्याप्ति जानी ही जाती है । जिस प्रकार दबाया हुआ रूई का गट्ठा पसारने से दीर्घ और अलग अलग करने से सूक्ष्म भी हो जाता है इसी प्रकार प्राण भी देश काल संख्या की अधिकता से अभ्यास किया हुआ

दीर्घ होता है और उसका अनुभव में आना कठिन होने से वह सूक्ष्म हो जाता है। रेचकादि तीनों प्राणायामों से भिन्न दूसरे प्रकार को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"बाह्य और अन्तर विषय की अपेक्षा से रहित चौथा प्राणायाम होता है। यथा शक्ति सर्व वायू को बाहर निकाल कर तुरन्त पीछे किया हुआ कुंभक बाह्य कुंभक होता है। यथा शक्ति वायू को खींच कर अन्तर भर कर पीछे तुरंत किया हुआ कुंभक, अन्तर कुंभक होता है। इस प्रकार रेचक पूरक दोनों का अनादर करके (जहां का तहां श्वास रोकना) केवल कुंभक होता है और वह अभ्यास किया हुआ पहले तीनों की अपेक्षा से चतुर्थ कहलाता है। निद्रा तन्द्रा आदिक प्रबल दोष वालों के लिये रेचकादि तीनों प्राणायाम होते हैं। दोष रहित पुरुषों के लिये चतुर्थ केवल कुंभक होता है। यह विवेक है। अब प्राणायाम के फल को सूत्र द्वारा कहते हैं:- "प्राणायाम से प्रकाश के आवरक मलरूप तम का नाश होता है" ।।इति।।

प्रकाश जो सतो गुण है उस का आवरण रूप तम जो निन्द्रा आलस्य आदिक का हेतु होता है, उस का नाश होजाता है। दूसरे फल को सूत्र में कहते हैं:—"और धारणा में मन की योग्यता होजाती है" ।।इति।। आधार, नाभी चक्र, हृदय, भ्रूमध्य, ब्रह्म रन्धर आदिक देश विशेष में चित्त को स्थापन करना धारणा है।

"चित्त का देश में बांधना धारणा है" यह सूत्र है। श्रुति भी प्रमाण है:—"मन संकल्प करने वाला है ऐसा चिन्तन करके बुद्धिमान पुरुष उस मनको आत्मा में लगाकर इसी प्रकार आत्मा को धारण करे यह मन की अवस्था धारणा कहलाती है"।

प्राणायाम द्वारा रजोगुण रचित चंचलता से और तमोगुण रचित आलस्यादिक से निवारण किया हुआ मन उस धारणा के योग्य होता है।

"प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से और गुरु की दी हुई युक्ति से" यहां, जो पीछे कहा, इस कथन से, युक्ति शब्द के द्वारा, योगी जनों को प्रसिद्ध मुख्य मेरु दण्ड को हिलाना, जिव्हा के अग्र भाग से तालू पर आक्रमण करना, नाभि चक्र में ज्योति का ध्यान करना, विस्मृति उत्पन्न कराने वाली औपधियों का सेवन करना इत्यादिक ग्रहण किया जाता है।

सो इस प्रकार, अध्यात्म विद्या, साधु संग, वासना क्षय और प्राणों का निरोध, चित्त के नाश के उपाय दिखलाये। अब उसी चित्त के नाश का उपाय जो समाधी है उसको कहते हैं। पञ्चभूमि युक्त जो चित्त है उस की तीन भूमियों को त्याग कर शेप दो भूमियों का नाम समाधी है। भूमियों के स्वरूप का भी योग के भाष्यकार (श्री व्यास भगवान) ने दर्शन कराया है "क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त और एकाग्र तथा निरुद्ध यह चित्त की भूमियां यानी अवस्था हैं।" इति ॥ (१) आसुरी संपदा, लोक शास्त्र और देह सम्बन्धी वासनाओं में वर्तने वाला चित्त क्षिप्त कहलाता है। (२) निद्रा तन्द्रा आदि से ग्रस्त मूढ़ होता है (३) कभी कभी ध्यान सहित, क्षिप्त से उत्कृष्ट होने से विक्षिप्त होता है। उन में से क्षिप्त और मूढ़ के विषय में तो समाधी की शंका यानी सम्भावना ही नहीं है। विक्षिप्त चित्त में तो गौणी विक्षेप वाली समाधी योग पक्ष में नहीं आती है। विक्षेप के अन्तर्गत होने से जलाने के पीछे बीज की न्याईं वह समाधी अत्यन्त (निष्फल) विनष्ट ही हो जाती है। (४) जो चित्त की एकाग्र अवस्था सद्भूत अर्थ को प्रकाशती है, क्लेशों को क्षीण करती है, बन्धनों को ढीला करती है और निरोध के सन्मुख करती है वह संप्रज्ञात योग के नाम से कहलाती है। (५) सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर तो असंप्रज्ञात समाधी होती है। उस संप्रज्ञात समाधी रूप एकाग्र भूमी को सूत्र में कहते हैं:—"शान्त यानी अतीत और उदित (वर्तमान) काल में तुल्य प्रत्यय (समान एक वृत्ति) होने पर चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है।" इति ॥ शान्त=अतीत। उदित=वर्तमान। प्रत्यय=चित्त की वृत्ति।

पहली वृत्ति जिस पदार्थ को ग्रहण करती है उसको ही यदि वर्तमान वृत्ति भी ग्रहण करे, तो वे दोनों वृत्तियां तुल्य यानी समान एक सदृश होती हैं। वैसे चित्त का परिणाम एकाग्रता कहलाता है। एकाग्रता की वृद्धि रूप समाधी को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"सर्वार्थता के क्षय और एकाग्रता के उदय होने से चित्त का समाधी परिणाम होता है।" इति ॥ रजोगुण से चलायमान हुआ चित्त क्रम से सर्व पदार्थों को ग्रहण करता है उस रजोगुण के निरोध के वास्ते योगी के अधिक प्रयत्न करने पर दिन दिन सर्वार्थता (यानी सर्व विषयों के आकार चित्त का होना) क्षीण हो जाता है और एकाग्रता उदय होती है, वैसा चित्त का परिणाम समाधी कहलाता है उस समाधी के अष्ट अंगों में से, यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, पांच बाहर के अंग हैं। उन में से यमों को सूत्र द्वारा कहते हैं "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं" इति ॥ हिंसादि निषिद्ध धर्मों से जो योगी को रोक कर रखें, वे यम हैं। नियमों को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं" इति ॥ जो साधन जन्म के हेतु काम्य धर्मों से हटा कर मोक्ष के हेतु निष्काम धर्म में नियमन करते हैं यानी प्रेरते हैं वे नियम हैं। यम और नियम दोनों के अनुष्ठान की विलक्षणता को स्मृति कथन करती है:—

"ज्ञानी पुरुष यमों का निरन्तर अभ्यास करे, नियमों का तो उसे नित्य अभ्यास कर्तव्य नहीं है। यमों को न करता हुआ पतित होता है यदि केवल नियमों को ही सेवन करता हो तो।

यमों में आसक्ति न रखने वाला नियमवान पुरुष पतित होता है, नियमों में आलसी, यमवान पुरुष पतित नहीं होता है, इस प्रकार यम और नियम को बुद्धि से विचार कर बुद्धि को यमों की बाहुल्यता में अर्थात् यमों के विशेष अनुष्ठान में पुनः पुनः लगावे।" इति ॥ यमों और नियमों के फलों को सूत्र द्वारा कहते हैं:—

(१) अहिंसा के परिपक्व स्थिति होने से, उस के समीपस्थ जीवों का परस्पर का वैर छूट जाता है। (२) सत्य की परिपक्वता से, क्रिया यानीं कर्म का जो फल होना है, सो सत्यवक्ता की वाणी के आश्रय से, सिद्ध हो जाता है। (३) अस्तेय यानी अचोरता दृढ़ होने से, सर्व रत्नों की उपस्थिति रहती है (४) ब्रह्मचर्य से सर्वोत्तम वीर्य (बल) का लाभ होता है (५) अपरिग्रह से (यानी पराया गृहण न करने से, अथवा अनावश्यक संग्रह त्याग देने से) यह जन्म किस प्रकार हुआ, ऐसा ज्ञान होजाता है, जन्मादिक के भय का, अभाव होजाता है। (६) बाह्य शौच से, अपने अंगों में ग्लानी और पर से असंसर्ग होता है, मानसी शौच से, अन्तःकरण की शुद्धी, मनकी प्रसन्नता एकाग्रता, इन्द्रियों का विजय और आत्म ज्ञान की योग्यता, यह फल होते हैं। (७) सन्तोष से, सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। (८) तप का फल, अशुद्धि के नाश होने से, शरीर और इन्द्रियों की दिव्यता रूप सिद्धि होती है। (९) स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार दर्शन तथा सहयोग होता है। (१०) ईश्वर प्रणिधान से समाधी की प्राप्ति होती है। आसन और प्राणायाम की व्याख्या कर चुके हैं अब प्रत्याहार का सूत्र द्वारा कथन करते हैं।

"स्वविषय के साथ सम्बन्ध न करते हुए, इन्द्रियों का, चित्त के स्वरूप के अनुसारी रहना (यानी चित्त से बाहर होकर स्वगोलकों द्वारा अपना दर्शनादि व्यवहार न करना) प्रत्याहार कहलाता है"। इति। शब्द स्पर्श रूप रस गंधादिक विषय हैं, उन्हों से हटाये हुए श्रोत्रादिक इन्द्रियगण, मानो चित्त के स्वरूप के अनुसारी होकर स्थित होते हैं।" श्रुति भी प्रमाण है:—

"शब्दादि विषयवाले पांचों श्रोत्रादि इन्द्रियों को और छटे अति चंचल मन को भी, आत्मारूपी सूर्य की किरण रूप चिन्तन करे, सो प्रत्याहार कहलाता है।" ॥इति॥

'शब्दादि विषय हैं जिन श्रोत्रादिक कडुन श्रोत्रादिक पांचों इन्द्रियों को और छटे मन को, इन सब को, अनात्म रूप शब्दादिकों से हटाना, यानी आत्मा की रश्मी रूप से चिन्तन करना, वह पृत्याहार है; यह अर्थ हुआ। पृत्याहार के फल को सूत्र द्वारा कहते हैं। उस पृत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त वश में होजाती हैं"। इति॥

धारणा ध्यान और समाधी को, तीन सूत्रों से कहते हैं:—

"चित्त का वृत्ति रूप से, आत्मा रूपी देश में बांधना अथवा (भ्रकुटी आदी देश में स्थापन करना) धारणा है उस आत्मा अथवा अन्य ध्येय में वृत्ति की एक तानता यानी धारावाही प्रवाह का होना ध्यान है। उस का ही ध्येयमात्र भासना (और वृत्ति रूपता तिरोहित होना) मानो स्वरूप से शून्य होना, समाधी है। इति॥ आधारादि देश पूर्व कहे हैं। अब देशान्तर में श्रुति प्रमाण कहते हैं:—

"संकल्प मन को बुद्धिमान पुरुष, ध्यान द्वारा, शुद्ध आत्मा में स्थापन करे इसी पूकार शुद्ध आत्माकी धारणा से, यह अवस्था धारणा कही गई है"। जो सर्व वस्तुओं का संकल्प करने वाला मन है, वह आत्मा का ही संकल्प करे, परन्तु अन्य का संकल्प न करे इस पूकार का पूयत्न यह आत्मा में संक्षेप है। वृत्तियों की एकतानता, केवल एक तत्व को विषय करने वाला प्रवाह है। और वह पूवाह दो पूकार का है:—टूट टूट कर होने वाला, और निरन्तर होनेवाला, वे दोनों ही क्रम से, ध्यान और समाधी रूप हो जाते हैं। उन दोनोंको सर्वानुभव योगीने दर्शाया है:—"जिस कारण से, चित्तकी एकाग्रता से, कथन किया हुआ ज्ञान सम्यक् उत्पन्न होता है इस लिये उस के साधन ध्यानका यथावत् उपदेश करते हैं। उत्पत्ति के उलटे क्रम से कार्यों का कारण में लय चिन्तन करते हुए शेष सन्मात्र चिदानन्द का ही निरन्तर चिन्तन करे।" इति॥ अहंकार के बिना, मन की वृत्तिका ब्रह्माकार प्रवाह, ध्यान के अभ्यास

की अधिकता से, संप्रज्ञात समाधी है। और उस का भगवत्पाद शंकराचार्य उदाहरण कहते हैं:—

चैतन्य स्वरूप आकाश के सदृश (असंग निर्लेप) परम् अर्थात् अविद्या के सम्बन्ध से रहित, अलुप्त स्वयं प्रकाश, परन्तु अज और अजर पाप पुण्यादि के लेप स्पर्श से रहित सर्व व्यापक जो अद्वितीय है, वही मैं निरन्तर विमुक्त ओम् हूँ ॥

चैतन्य तो शुद्ध अहं (पद का लक्ष्य) निर्विकार आत्मा है, मेरा स्वभाव से ही कोई विषय नहीं है, आगे पीछे ऊपर नीचे और सर्व ओर से सम्पूर्ण भूमा (व्यापक ब्रह्म) अज, आत्म स्वरूप स्थित है।

अज और अमर ही है, ऐसे ही अजर और अमृत है, वह सर्व व्यापक स्वयं प्रकाश मैं अद्वैत हूं, कार्य कारण से विनिर्मुक्त, अत्यन्त निर्मल सदा ही तृप्त इसी से अत्यन्त मुक्त ओम् हूं।

शंका:—संप्रज्ञात समाधी अंगी है (यानी अष्ट अंगों वाला है)। ध्यान के पीछे होने वाले आठवें अंग समाधी के स्थान में उसका क्यों कथन किया जाता है (यानी जिस समाधी के ८ अंग हैं उसी को आठवां अंग क्यों कहा)।

समाधान:—यह दोष नहीं है क्योंकि कोई अत्यन्त भेद नहीं है। जिस प्रकार वेद को अध्ययन करता हुआ बालक स्थान स्थान पर भूलता हुआ पुनः पुनः ठीक २ पढ़ता है। अधीत-वेद पुरुष सावधान होकर नहीं भूलता है। अध्यापक निद्रा करता हुआ भी निरन्तर पढ़ाता हुआ भूलता नहीं है। इसी प्रकार विषय की एकता होने पर भी अभ्यास की पकाई के न्यूनाधिकता के भेदों द्वारा ध्यान समाधी संप्रज्ञातादिक अन्तर के भेद जान लेना। धारणादिक तीनों मन के विषय हैं, इसलिए संप्रज्ञात के अन्तर के अंग हैं। यमादि पांचों तो बाहर के अंग हैं। सो यह सूत्र द्वारा कहते हैं:—"पूर्व पांचों की अपेक्षा से पीछे के तीनों अन्तरंग हैं।" इति ॥ इस लिये किसी

भी पुण्य द्वारा यदि पहले ही अन्तरंग प्राप्त हो जावें तो बहिरंगों के लाभ के वास्ते अति परिश्रम कर्तव्य नहीं है। यद्यपि पातंजलि ने भौतिक भूत तन्मात्र इन्द्रिय अहंकारादि विषयों वाली बहुतसी संप्रज्ञात सविकल्प समाधियां विस्तार पूर्वक कहीं हैं तो भी क्योंकि वे समाधी अन्तर्धानादि सिद्धि की हेतु हैं और मुक्ति की हेतु जो समाधी उसकी विरोधी हैं, इसलिये उनमें हम आदर नहीं करते हैं। ऐसा ही सूत्र म कहा है:—

"वे सिद्धियां समाधी में विघ्न हैं, उत्थान काल में सिद्धियां कहलाती हैं" ॥इति॥ "देवताओं के बुलाने पर आसक्ति और आश्चर्य नहीं करना, पुनः अनिष्ट का प्रसंग होगा" इतिच्। स्थानी देवता होते हैं। उद्दालक को देवताओं ने बुलाया भी परन्तु देवताओं का अनादर करके वह निर्विकल्प समाधी को ही करता रहा यह वसिष्ठ की कथा में कहा है। प्रश्न उत्तर द्वारा भी इसी प्रकार जाना जाता है:—

श्रीरामजी ने पूछा:—"हे आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! यहां जीवन्मुक्त शरीरों में आकाश गमनादिक सिद्धियां क्यों नहीं दिखाई देती हैं ?"

श्री वसिष्ठ जी बोले:—"अनात्मज्ञ पुरुष मुक्त न होकर भी आकाश गमन आदिक और अणिमादिक अष्टसिद्धियों के सिद्धि के जाल की इच्छा करता है।"

"हे राघव ! द्रव्य मन्त्र क्रिया काल और युक्ति द्वारा सिद्धियां प्राप्त होती हैं। यह आत्मज्ञानी का विषय नहीं हैं क्योंकि आत्म ज्ञानी आत्मामात्र का अनुभव करने वाला है।"

आत्मा द्वारा आत्मा में सम्यक् तृप्त पुरुष अविद्या की ओर नहीं धावन करता है जो कोई जगत के भाव (पदार्थ) हैं उनको विद्वान लोग अविद्या का विकार जानते हैं।

उन में से अविद्या को जिसने त्याग दिया ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष उनमें कैसे डूबता है। द्रव्य मन्त्र क्रिया और काल की शक्तियां उचित सिद्धियों

को देने वाली हैं ॥

परमानंद पद की प्राप्ति में कोई भी सिद्धी उपकारी नहीं है। सर्व इच्छा जाल की सम्यक् शान्ति में, जो आत्म लाभ का उदय है। सो लाभ का उदय, सिद्धि की वाञ्छा में डूबे हुए चित्त वाले को कैसे प्राप्त होगा ?" इति ॥ "यह जगत् के कोई भी (विभूतियों वाले) पदार्थ तत्व ज्ञानी को नहीं लुभाते हैं, जैसे कि नगर वासिनी स्त्री वाले नगर निवासी पुरुष को, चाण्डाल स्त्री नहीं लुभा सकती है तद्वत् ॥

सूर्य की किरण, शीतल भी हो जावें, चन्द्रमा मण्डल अत्यन्त तीक्ष्ण (यानी अत्युष्ण) भी हो जावे, अग्नि की शिखा नीचे की ओर जाने लगे, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष आश्चर्यवान नहीं होता है।

इस प्रकार से यहां यह चिदात्मा की शक्तियां प्रगट हो रही हैं, ऐसे (समझकर) इस पुरुष को आश्चर्य जालों में, कौतुक नहीं प्रतीत होता है।" "जो पुरुष तो आत्म साक्षात्कारवान होकर भी सिद्धि जालों की इच्छा करता है वह पुरुष सिद्धि के साधक द्रव्यों से उन सिद्धियों को क्रम से साध लेता है ॥ इति ॥" आत्मा को विषय करने वाली संप्रज्ञात समाधी तो वासना क्षय और निरोध समाधी का हेतु है, इसलिये इसके विषय में हमने आदर किया है। अब हम पंचम भूमि रूप निरोध समाधी का निरूपण करते हैं, उस निरोध को सूत्र द्वारा कहते हैं :—"व्युत्थान संस्कार क दब जाने पर और निरोध संस्कार के प्रगट उत्पन्न होने पर निरोधक्षण संबंधी चित्त का निरोध परिणाम होता है" ॥ इति ॥ व्युत्थान संस्कार समाधी के विरोधी हैं वे उद्दालक की समाधी में कथन किये गये हैं :—

मैं कब मनन के त्याग वाले परम पवित्र पद में दीर्घ काल तक विश्रान्ति को प्राप्त करूंगा, कि जैसे मेरु के शिखर पर मेघ। इस प्रकार उद्दालक ब्राह्मण ने बल से चिन्ता के आधीन होकर पुनः पुनः बैठकर ध्यान

के अभ्यास को संपादन किया। चित्तरूपी चंचल बन्दर के विषयों से अपहरण किये जाने पर वह प्रसन्नता को देनी वाली समाधी निष्ठा को नहीं प्राप्त हुवा।

कदाचित् बाह्य विषयों के त्याग के पीछे उसका चित्त रूपी बानर अन्तर यानी मनोमय विषयों का संग्रह करने लगा। कदाचित् अन्तर वे विषयों को छोड़कर बाह्य विषयों को ग्रहण किया उसका मन भयभीत पत्ती की न्याईं कदाचित् उड़कर चला जाता है। कदाचित् प्रातः निकलते हुए सूर्य की न्याईं विस्तृत तेज को देखता है कभी केवल आकाश को और कभी गाढ़ अंधकार को देखता है। यथारुचि प्रतिभासित दृश्यों के पुनः पुनः आने पर उसने उनको मन के विचार से ऐसे काट दिया मानों रण में शत्रुओं को। विकल्प समूह के छेदन होने पर उसने हृदयाकाश में चपल कज्जल के सदृश अन्धकार से ढ़के हुए विवेक रूपी सूर्य को देखा।

उस तम को भी सम्यक् ज्ञान रूपी सूर्य द्वारा नष्ट कर दिया, तम के निवृत्त होने पर उसने अपने हृदय में तेज के समूह को देखा। उस तेज के पुंज को भी ऐसे काट दिया, जैसे पृथवीं के कमलों के बनको बाल हाथी काट देता है, तेज के निवृत्त होने पर उस मुनि का मन निद्रालू होगया।

उसने (हाथी से काटे हुए) रात्री के कमल के न्याईं उस अगाध निद्रा को भी काट दिया निद्रा के नाश होने पर उसको आकाश की संपित यानी प्रतीति उदय हुई।

आकाश की स्फूर्ति के नाश होने पर उसका मन मूढ़ होगया, उस मन के इस मोह को भी महाशय उद्दालक ने मार्जन कर दिया। तब तेज, तम, निद्रा और अविवेक से रहित किसी भी अवस्था को प्राप्त होकर मन ने विश्रान्ति को क्षण भर प्राप्त किया॥ इति॥ वे यह व्युत्थान के संस्कार निरोध के हेतु योगी के प्रयत्न से प्रति दिन और प्रति क्षण दबा दिये जाते हैं और उसके विरोधी निरोध संस्कार उदय होते हैं। ऐसा होने पर चित्त एक एक क्षण

के निरोध के अनुसार हो जाता है। सो यह इस प्रकार चित्त का निरोध परिणाम होता है।

शंका:—"सिवाय चिति शक्ति के पदार्थ अवश्य प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं। इस न्याय से सदा चित्त के परिणाम का प्रवाह बना रहता है, यह कहना चाहिये (निरोध कैसे हो)।

समाधान:—ठीक है, वहां व्युत्थान हुए चित्त की वृत्ति का प्रति प्रवाह प्रसिद्ध है। परन्तु निरुद्ध चित्त का कैसे ? यह आशंका करके सूत्र प्रमाण कहते हैं "उस निरोध से अनन्तर संस्कारों का प्रशान्त प्रवाहिता होती है" इति ॥ जैसे काष्ठ, घृत, आहुति के डालने से अग्नि, अधिक २ वृद्धि को प्राप्त होती हुई प्रज्वलित होती है। ईंधन के समाप्त होने पर प्रथमक्षण में कुछ शान्त होती है अगले अगले क्षण में शान्ति बढ़ती है इसी प्रकार निरुद्ध चित्त का आगे आगे अधिक शान्ति का प्रवाह रहता है, तहां पूर्व पूर्व निरोध से उत्पन्न संस्कार ही आगे २ शांति का कारण है इस प्रशान्त प्रवाह को भगवान स्पष्ट कहते हैं:—

जब विषयों से विवर्जित चित्त आत्मा में ही स्थित होता है तब सब भोगों की तृष्णा से रहित हुआ वह युक्त अर्थात् समाहित कहलाता है जिस प्रकार वात रहित स्थान में रखा हुआ दीपक नहीं हिलता है वह उपमा आत्मा के विषय योग (धारणा ध्यान समाधी) का अभ्यास करते हुए योगी के निगृहीत चित्त की कही है।

जो आत्यन्तिक (केवल) सुख रूप है शुद्ध बुद्धि से ग्राह्य है, इंद्रियों से परे है (इंद्रियों का विषय नहीं है) जिस में स्थित हुआ यह योगी (उस सुख को) जानता है और स्वरूप से विचलित ही नहीं होता है (यानी पुनः संशय विपर्यय युक्त हुआ भ्रान्त नहीं होता है) ॥

और जिस को प्राप्त होकर उससे अधिक लाभ को नहीं मानता है, जिस में स्थित हुआ बड़े भारी दुःख से भी विचलित (विभ्रान्त) नहीं होता है।

उस दुःख संबन्ध के वियोग को योग नाम से जानों वह योग खेद रहित चित्त से निश्चय करके अभ्यास करने योग्य है ॥इति॥ निरोध समाधी के साधन को सूत्र द्वारा कहते हैं:—

"निरोध के कारण रूप प्रयत्न के पुनः पुनः संपादन पूर्वक संस्कार शेष रूप (यानी केवल वृत्ति रहित संस्कार मात्र) एकाग्रता रूप संप्रज्ञात से भिन्न दूसरी निरोध समाधी होती है ।।इति॥

विराम=वृत्तियों का निरोध। प्रत्यय = कारण। वृत्तियों के निरोध के लिए जो पुरुष प्रयत्न है उसका अभ्यास नाम पुनः पुनः संपादन करना है, तत्पूर्वक यानी उस से जन्य उस से पीछे के सूत्र में संप्रज्ञात समाधी का कथन होने से उस संपूज्ञात की अपेक्षा से दूसरी असंप्रज्ञात समाधी होती है। वहां वृत्ति रहित चित्त के स्वरूप को दुर्लक्ष्य होने से चित्त संस्कार मात्र होकर शेष रहता है। निरोध के अभ्यास से असंपूज्ञात की जन्यता को भगवान स्पष्ट कहते हैं:—

"संकल्प से उत्पन्न हुई सर्व भोग इच्छाओं को संपूर्ण त्याग कर मन से ही इन्द्रिय ग्राम को सब ओर से रोक कर। धैर्य से ग्रहण की हुई बुद्धि से मनको धीरे धीरे निरुद्ध करे, मन को आत्मा में सम्यक् स्थित करके फिर कुछ (आत्मा का अथवा अनात्मा का) चिन्तन न करे (क्योंकि आत्मा स्व-स्वरूप है आत्म चिन्तन से अनात्म निवारण होचुका)। चंचल और अस्थिर मन जिस जिस निमित्त से बाह्य गमन करता है उस उससे यह मन निरुद्ध करके (उसको) आत्मा के ही आधीन करे" ॥इति॥

भोग्य पदार्थ माला चन्दन स्त्री, पुत्र, मित्र, गृह, क्षेत्रादिक, मोक्ष शास्त्र में कुशल विवेकी जनों को प्रसिद्ध बहुत दोषों से दूषित भी हैं परन्तु अनादी अविद्या के वश से उन दोषों को ढक कर, उन विषयों में सम्यक्ता की (श्रेष्ठ होने की) कल्पना करते हैं उस संकल्प से यह मुझे मिले इस आकार की भोगों की इच्छा उदय होती है। ऐसा ही स्मृति में कहा है:—

"निश्चय करके कामना संकल्प मूलक है (काम का मूल कारण संकल्प है) यज्ञ संकल्प से उदय होता है, हे काम ! मैं तेरी मूल जड़को जानता हूं, तू निश्चय करके संकल्प से उत्पन्न होता है, मैं तेरा संकल्प नहीं करूंगा, तेरा मूल से विनाश होजावेगा" ॥इति॥

इन्द्रिय ग्राम का निरोध तथा काम का त्याग उन दोनों में से विषयोंमें दोषोंके साक्षात्कार करने पर कुत्ते के वमन किये हुए पायस (दूध पेड़े क्षीर आदिक) के त्याग की न्याईं भोगों का त्याग हो जावेगा। माला, चन्दन आदिक की न्याईं ब्रह्म लोकादिक में और अणिमादिक अष्ट सिद्धियों में भी कामनाओं को त्याग करना योग्य है इसी अभिप्राय से "सर्वान्" यह शब्द कहा है। मास पर्यन्त उपवास के नियम धारण करने वाले को उस मास में अन्न के त्याग होने पर भी इच्छा पुनः पुनः उदय होती है ऐसा न हो इसलिये "अशेषतः" (यानी संपूर्ण रूप से) यह कहा। कामना के त्याग होने पर मन से प्रवृत्ति न होने पर भी चक्षु आदिक की रूपादिक में स्वभाव सिद्ध प्रवृत्ति होती है, वह भी प्रयत्न युक्त मन से ही निग्रह करने योग्य है। देवता दर्शनादिक में भी अनुकूल प्रवृत्ति न होंने के लिये "समन्ततः" यह शब्द कहा। भूमिका जय के क्रम से निरोध के कथन की इच्छा है, इस लिये "शनैः शनैः" यह कहा। वे चारों भूमिका कठवल्ली में श्रवण होती हैं:—

विद्वान् वाणी को मन में [इदं वृत्ति में] निग्रह करे उस मन के इदं वृत्ति रूप व्यापार को ज्ञानात्मा में [यानी विशेष स्थूल अहंकार में] निग्रह करे, ज्ञानात्मा को महानात्मा में यानी सामान्य अहंकार में नियम न करे, उस महानात्मा को शुद्ध निर्विशेष शान्तात्मा में निरुद्ध करें" ॥इति॥

(१) वाणी का व्यापार दो प्रकार का होता है, एक तो लौकिक और दूसरा वैदिक। बात चीत करना इत्यादिक संसारी व्यापार है, जपादिक रूप वैदिक है। उन दोनों में लौकिक बहुत विक्षेपकारी है, व्युत्थान काल

में भी योगी उसका परित्याग करे। इसलिए स्मृति में कहा है:—"मौन योग का आसन, योगाभ्यास, तितिक्षा, एकान्तशीलता, तृष्णा का त्याग और समता यह सात साधन एक दंडधारी परमहंस के होते हैं। निरोध समाधी के अभ्यास में जपादिक साधनों का तथा बात-चीत का परित्याग करे।

(२) सो यह वाणी निरोध पृथम भूमि है। उस भूमी को पृयत्न मात्र से कितने ही दिन महीनों या बरसों में दृढ़ जीत कर पीछे से दूसरी मनो-भूमी के विजय का पृयत्न करे। ऐसा न करें तो बहुत सी भूमियों के परिश्रम से पृथम भूमि के भ्रष्ट होने से ही आगे की योग भूमियां नष्ट हो जावेंगी। यद्यपि चक्षु आदिक इन्द्रियां भी निरुद्ध करती हैं तो भी, उनको वाग् भूमि के अथवा मनोभूमि के अन्तर्गत जान लेना।

शंका:—वाणी को मन में निरुद्ध करे, यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक इन्द्रिय का दूसरी इन्द्रिय में पृवेश नहीं होता है।

समाधान:—ऐसा मत कहो, क्योंकि पृवेश का कथन इष्ट नहीं है। नाना विक्षेपकारी जो वाणी और मन हैं उन दोनों के मध्य में से पहले से वाणी के व्यापार को रोक कर मन का संकल्पादि व्यापार मात्र बच रहे यह कथन इष्ट है। गो भैंस आदिक की न्याई वाणी का निरोध स्वभाव सिद्ध होने पर पीछे मन को ज्ञानात्मा में निग्रहीत करे। आत्मा तीन प्रकार का होता है एक ज्ञानात्मा दूसरा महानात्मा और तीसरा शांतात्मा आत्मा जिस में स्थित होकर जाने यानी जानने की उपाधी अहंकार यहां "ज्ञान" शब्द से कहना इष्ट है। क्योंकि करण रूप मन जिसका निग्रह किया है, वह पृथक उपाधी है। अहंकार दो पृकार का होता है एक विशेष रूप और दूसरा सा-मान्य रूप यह मैं इसका पुत्र हूं इस पृकार स्पष्ट अभिमान वाला विशेष रूप अहंकार है। "मैं हूं" इतने मात्र अभिमान वाला सामान्य रूप अहंकार है। और वह सर्व व्यक्तियों में व्याप्त होने से "महान" कहलाता है। दोनों

आत्मा उन दोनों प्रकार के अहंकारों की उपाधि वाले हैं। निरूपाधिक शान्तात्मा है सो यह सबके अन्तर बाहर होकर वर्तता है। शान्तात्मा सब से सूक्ष्म चिद् एक रस है। उसमें अध्यस्त होकर स्थित, जड़ शक्ति स्वरूप, अव्यक्त मूल प्रकृति है। और वह शक्ति प्रथम सामान्य अहंकार रूप है यह तत्व नाम धार कर प्रकट व्यक्त होती है। फिर बाहर विशेष अहंकार रूप से फिर बाहर मन रूप से फिर बाहर वागादि इन्द्रिय रूप से प्रकट होती है। सो इस अभिप्राय से आगे आगे सूक्ष्मता को श्रुति ने पृथक् पृथक् करके दिखाया है।

"अर्थ, यानी मनोमय वासना रूप विषय इन्द्रियों से परे यानी सूक्ष्म हैं, वासनात्मक शब्दादिक विषयों से उनका मनन करने वाला मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है (क्योंकि प्रथम से अनुकूलता के निश्चयात्मक संस्कारों के होने पर विषयों का संकल्प होता है, इस लिये बुद्धि सूक्ष्म है) बुद्धि से महानात्मा यानी सामान्य अहंकार सूक्ष्म है।

महानात्मा से अव्यक्त सूक्ष्म है, अव्यक्त प्रकृति से पुरुष सूक्ष्म है, पुरुष यानी आत्मा से कुछ भी सूक्ष्म श्रेष्ठ नहीं है वह अवधि रूप है वह परम गति यानी मोक्ष रूप है" ॥ इति॥

ऐसा होने पर यहां नाना विध संकल्प विकल्प के साधन करण रूप मन को अहंकार में निरुद्ध करे, मन के व्यापारों को त्याग कर अहंकार मात्र को शेष रखे" यह असंभव है ऐसा न कहनाः—

"उस मनका निग्रह मैं वायु के निरोधवत् अत्यन्त कठिन मानता हूं" ऐसे कहते हुए अर्जुन के प्रति भगवान् ने उत्तर कहा हैः—

हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल है उसका निग्रह कठिन है, परन्तु हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन! वैराग और अभ्यास दोनों के साथ साथ अनुष्ठान से निरोध हो जाता है।

सम्यक् वैरागाभ्यास के यत्न से रहित अन्तःकरण वाले को मनोवृत्ति का निरोध रूप योग प्राप्त होना कठिन है ऐसी मेरी मति है परन्तु निग्रहीत अन्तःकरण वाले यत्नशाली पुरुष को तो उपाय से प्राप्त होना संभव है" ॥इति॥ अभ्यास वैराग की तो पातंजलि के सूत्र के उदाहरण द्वारा व्याख्या करेंगे पूर्व पूर्व भूमिकी दृढता से रहित असंयतात्मा होता है। उस उस भूमिका की दृढता वाला निगृहीत अंतःकरण वाला वश्यात्मा होता है। उपाय से प्राप्ति को गौड पादाचार्य दृष्टान्त सहित कहते हैं:—

जिस प्रकार कुशा के नोककी एक बूंद से समुद्र का शोषण हुआ इसी प्रकार मन का निग्रह बड़े परिश्रम से होता है।

बलवान भी एक व्यक्तिने बहुतों से विरोध नहीं करना चाहिये। बड़ा बलवान इस प्रकार, पराजय को प्राप्त होता है जिस प्रकार कि समुद्र टिटिभी पक्षियों से पराजित हुआ।

इस विषय में संप्रदाय के ज्ञाता एक कहानी कहते हैं:—निश्चय करके किनारे रखे हुए किसी चिड़िया के अण्डों को समुद्र अपनी झाल से बहा लेगया। "उस समुद्र को मैं सुखाऊंगा" इस निश्चय से प्रवृत्ता हुआ वह पक्षी अपनी चोंच से एक एक बूंद को बाहर निकालता था। तब बहुत संबंधी पक्षियों से वर्जित भी किया गया परन्तु नहीं रुका उल्टे उन को भी सहायक बनालिये। उन सब पक्षियों को गिरते पड़ते क्लेश उठाते देखकर कृपालु नारद ने गरुड को उनके पास भेजा। तब गरुड के पंखों की हवा से सूखते हुए समुद्र ने भय भीत होकर उन अण्डों को पक्षि के प्रति देदिये ॥"

इस प्रकार खेद रहित होकर मन के निरोध रूप परम धर्म में प्रवृत्त होने वाले योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है। बीच बीच में उस निरोध के अनुकूल व्यापार को मिलाने से अखेद सिद्ध हो जाता है। जैसे चावल खाते हुए उस के ग्रासों के बीच बीच में चूसने चाटने के द्रव्यों का स्वाद लेलेते हैं तद्वत्। इसी अभिप्राय से वसिष्ट जी ने कहा है:—

"चित्त के दो भाग भोगों से और एक भाग शास्त्र से पूर्ण करे एक भाग गुरु सेवा से और उनसे श्रवण की इच्छा करके पूर्ण करे यह बोध के लिये योग में प्रवेश करने की रीति है।

किंचित् प्रबुद्धहुए हुए को उचित है कि एक भाग भोगों से पूर्ण करे दो भाग गुरु सेवा और श्रवण की जिज्ञासा से और एक भाग शास्त्रार्थ के विचार से पूर्ण करे।

योगारूढ़ के लिये यानी जिसे ज्ञान हुवा हो उसके लिये यह रीति है कि वह प्रति दिन चित्त के दो भाग शास्त्र और वैराग से पूर्ण करे और दो भाग ध्यान और गुरु पूजा से पूर्ण करे ॥" इति ॥

भोग शब्द से यहां जीवन का हेतु भिक्षाऽनादि व्यापार और वर्णाश्रम का उचित व्यापार भी कहा है। घड़ी मात्र अथवा मुहुर्त्त भर यथा शक्ति योगाभ्यास करके पीछे मुहुर्त्त भर शास्त्र श्रवण से सेवा टहल करके अथवा गुरु के अनुसार वर्त कर मुहुर्त्त भर स्वदेह के अनुकूल शौचाचार क्रिया करके मुहुर्त्त भर योग शास्त्र का विचार करके फिर मुहुर्त्त भर योगाभ्यास करे। इस प्रकार योग की प्रधानता करके अन्य व्यवहारों को मिलाकर उन की शीघ्र समाप्त करके सोते समय उस दिन में अभ्यास किये हुये योग के मुहुर्त्तों की गिनती करे। पीछे अगले दिन अथवा अगले पक्ष में अथवा अगले मास में योग के मुहुर्त्तों को बढ़ावे। और इस प्रकार एक एक मुहुर्त्त में एक एक क्षण के योग में भी वर्ष भर में ही बहुत सा योग का काल हो जाता है। इस प्रकार एक योग की शरण होने से अन्य व्यापारों का लोप हो जावेगा यह शंका नहीं करना योग्य है। क्योंकि जिसके अन्य व्यापारों का लोप हो उसको ही तो योग का अधिकार है। इसीलिये विद्वत्सन्यास की आवश्यकता है। इसलिये उस एक योग में निष्ठा वाला पुरुष पठन करने वाले अथवा बणिक आदिकों की न्याई धीरे धीरे योगारूढ़ हो जाता है। जिस प्रकार अध्ययन करता बालक पाद के एक अंश को आधे पाद को एक

ऋचा को दो ऋचा को और वर्ग को क्रम से पढ़ता हुआ दस बारह वर्ष में अध्यापक हो जाता है। और जिस प्रकार वाणिज्य करता हुवा एक रुपिया दो रुपिये आदिक उपार्जन करते हुए क्रम से लक्षपति अथवा कोटिपति हो जाता है इसी प्रकार उन वणिक और विद्यार्थियों के समान योग का आरंभ करके मत्सर से ग्रस्त जन की न्याईं अभ्यास करता हुवा उतने समय में क्यों न योगारूढ़ हो जावेगा ? इसलिये पुनः पुनः प्राप्त होने वाले संकल्प विकल्पों को उद्दालक की न्याईं पुरुष प्रयत्न द्वारा परित्याग करके अहंकार रूप ज्ञानात्मा में मन को निग्रह करे, उस इस दूसरी भूमिका को विजय करके बाल मूक आदिक की न्याईं निर्मनस्क भाव स्वभाविक होने पर पीछे विशेष अहंकार रूप विस्पष्ट ज्ञानात्मा को अस्पष्ट सामान्य अहंकार रूप महतत्व में निग्रह करे। जिस प्रकार थोड़ी तंद्रा को प्राप्त पुरुष का विशेष अहंकार आप से आप ही बिना सोये हुए संकुचित हो जाता है इसी प्रकार विस्मरण के प्रयत्न वाले का अहंकार संकुचित हो जाता है सो यह लोक प्रसिद्ध तन्द्रा के समान और तार्किकों के इष्ट निर्विकल्प ज्ञान के समान महतत्व मात्र परिशेष रहने वाली अवस्था तीसरी भूमी है।

इस भूमिका को भी दृढ़ अभ्यास द्वारा जीतकर उस इस सामान्य अहंकार रूप महानात्मा को निरुपाधी रूप शान्तचिद् एक रस स्वसत्ता में निरुद्ध करे। "महतत्व का तिरस्कार करके चिन्मात्र शेष रखे"। यहां भी पूर्वोक्त विस्मृति का प्रयत्न ही उससे भी अधिक उपाय रूप हो जाता है जिस प्रकार शास्त्र के अभ्यास में प्रवृत्ति पुरुष को बोध से पहले प्रत्येक शब्द के व्याख्यान की आवश्यकता भी है परन्तु प्रबुद्धि को आप ही आगे के ग्रन्थ का अर्थ ज्ञात हो जाता है। यही योग भाष्यकार ने कहा है :—

"पूर्व भूमिका वाले योग से उत्तर भूमी के योग्य को जान लेना चाहिये प्रथम योग के अभ्यास से योग की प्रवृत्ति होती है जो योगाभ्यास के प्रमाद से रहित है वह योगी दीर्घ काल योग में रमणशील सुखी रहता है" ॥इति॥

योग की उत्तर भूमिका योगाभ्यास द्वारा ज्ञात होती है योगाभ्यास से योग मार्ग आगे चलता है जो पूर्व भूमिका से उत्तर भूमिका के योगाभ्यास द्वारा योग के प्रमाद से रहित है वह योगी दीर्घ काल पर्यन्त योग में रमण करता है।

शंका :—महतत्व और शान्तात्मा के बीच में श्रुति ने महतत्व के उपादान कारण अव्यक्त नाम वाले तत्व का भी तो कथन किया है उस अव्यक्त का निरोध क्यों नहीं किया जाता है।

समाधान :—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि लय (निद्रा) का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा हम यह कहते हैं।

जिस प्रकार घट को अनुपादान रूप जल में डालें तो लीन नहीं होता है परन्तु उपादान रूप मिट्टी में लीन हो जाता है। इस प्रकार महतत्व का आत्मा में तो लय नहीं होता है परन्तु अव्यक्त में उसका लय हो जावेगा। और स्वरूप से लय हो जाना (यानी निद्रा में अव्यक्त अज्ञान के साथ एकीभूत हो जाना) पुरुषार्थ नहीं हैं क्योंकि वह आत्मा साक्षात्कार के उपयोगी नहीं है। " परन्तु एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्म दर्शियों को साक्षात्कार होता है।" इस पूर्व वाक्य में आत्मदर्शन को कहकर सूक्ष्मता की सिद्धि के लिये निरोध का कथन है, और लय को प्रति दिन सुषुप्ति में स्वतः सिद्ध होने से भी उसका प्रयत्न तो व्यर्थ ही है।

शंका:—धारणा ध्यान समाधी से साध्य जो संप्रज्ञात है वहतो, एकाग्र वृत्ति रूप होने से आत्म साक्षात्कार का हेतु भी है, परन्तु शान्तात्मा में निरुद्ध, असंप्रज्ञात समाधी को प्राप्त चित्त वृत्ति रहित होने से, सुषुप्ति की न्याई, आत्मदर्शन का हेतु नही है, (इस लिये व्यर्थ है)।

समाधानः—यह कथन ठीक नहीं हैं क्यों कि आत्म दर्शन तो स्वतः स्वरूप से सिद्ध है (विद्यमान ही है) उसका निवारण करना ही असंभव है। इसी लिये श्री योग मार्ग ग्रंथ में कथन किया है:—

"चित्त सदा आत्माकार अथवा अनात्माकार होकर स्वभाव से ही स्थित है, केवल आत्माकार होकर अनात्म दृष्टि का तिरस्कार करता हुआ, अभ्यास करे" जिस प्रकार बनाया हुआ घट आपही आकाश से पूर्ण बनता है, घट उत्पन्न होने पर पीछे पुरुष प्रयत्न द्वारा जल चावल आदिक से वह पूर्ण किया जाता है। उस में से जलादिक निकाल भी डालें परन्तु आकाश नहीं निकाला जा सकता है। मुख को ढक कर भी भीतर आकाश रहता ही है। इसी प्रकार उत्पन्न हुआ चित्त आत्म चैतन्य से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। चित्त उत्पन्न होने पर पीछे सांचे में गलाये हुए ताम्र की न्याई भोग के कारण धर्माधर्मादि के वश से घट, पट, रूप, रस सुख दुःखादि वृत्ति रूपता को प्राप्त होजाता है। वहां उस चित्त में से रूप रसादिक अनात्माकार को निवृत्त भी करदें परन्तु निर्निमित्त स्वरूप से विद्यमान चिदाकार का निवारण असंभव है। इस लिये निरोध समाधी द्वारा वृत्ति रहित संस्कार मात्र से शेष रहते हुए सूक्ष्म हुए चिद् स्वरूप मात्र के सम्मुख होने से एकाग्र चित्त द्वारा निर्विघ्न आत्मा का अनुभव होता है। इसी अभिप्राय से वार्तिककार सर्वानुभव योगी कहते हैं:—

पुण्यपापादि निमित्त से बुद्धि सुख दुःखादि रूप होती है, आत्म वस्तु के स्वभाव से आत्म साक्षात्कार रूपता तो बिना किसी हेतु के ही होती है।

निरुद्ध वृत्ति वाला चित्त परमानन्द का प्रकाशक है, यह असंप्रज्ञात नाम वाली समाधी है, योगियों को प्रिय है" ॥इति॥ आत्म साक्षात्कार को स्वतः सिद्ध होते हुए भी अनात्म दर्शन के निवारण के लिये निरोधाभ्यास है इसी लिये कहा है:—

"मनको आत्मा में सम्यक स्थित करके कुछभी चिन्तन न करे" ॥इति॥ योग शास्त्र की, चित्त की चिकित्सा करने वाली समाधी मात्र में प्रवृत्ति है, वहां निरोध समाधीसे आत्म साक्षात्कार साक्षात नहीं कहाहै दूसरे प्रकार से तो यह ज्ञान होता है। "चित्तकी वृत्तिका निरोध योग है" यह सूत्र कह कर

"समाधी में द्दष्टा की स्वरूप स्थिति होती है" यह सूत्र है यद्यपि द्दष्टा निर्विकार है सदा स्वरूप में स्थित ही है तो भी उत्पन्न हुई वृत्तियों में चैतन्य का प्रतिबिंब होने पर उस चैतन्य स्वरूपता के अविवेक से, द्दष्टा अस्वस्थ (विकारी) की न्याईं होजाता है। सो भी दूसरे सूत्र द्वारा कहदिया है:— "अन्य समय द्दष्टा वृत्ति के समानाकार होता है" ॥इति॥ अन्यत्र भी सूत्र में कहा है:—

"बुद्धि सत्व और पुरुष भिन्न २ भी हैं परन्तु पुरुष की सत्व के साथ सामान्यता भोग है पुरुष के अर्थ है" इति। "चैतन्य अन्यत्र गमन रहित यानी कूटस्थ है, उसके बुद्धि के आकार होने पर स्वबुद्धि का स्फुरण होता है (यानी मेरी अपनी होने का ज्ञान होता है) यह भी कहा है। निरोध समाधी से त्वं पद के अर्थ का शोधन होने पर उसके साक्षात्कार होने पर उसको ब्रह्म रूप अपरोक्ष जानने के किये, महावाक्य द्वारा ब्रह्म विज्ञान नाम दूसरी वृत्ति उत्पन्न की जाती है। शुद्धत्वं पदार्थ के साक्षात्कार होने में तो निरोध समाधी ही केवल एक उपाय नहीं है। किन्तु चिद् और जड़ के विवेक द्वारा भी उसका साक्षात्कार हो सकता है। इसी लिए वसिष्ठ जी ने कहा है:—

"हे राघव! चित्त के नाश की दो रीतियां हैं, एक तो योग और दूसरा ज्ञान चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है और सम्यक् दर्शन विवेक है" ॥ इति ॥ "किसी को योग असाध्य है, और किसी को ज्ञान का निश्चय असाध्य है इसलिए परमेश्वर देवने दोनों प्रकार कथन किये हैं" यह भी कहा है।

शंका:—विवेक भी योग में समाप्त हो जाता है क्योंकि दर्शन के समय आत्माकार मात्र एकाग्र वृत्ति क्षण भर संप्रज्ञात रूप होती है।

समाधान:—ठीक है तो भी संप्रज्ञात असंप्रज्ञात दोनों की स्वरूप से और साधन से भी महान विलक्षणता है। वृत्ति और अवृत्ति के भेद से

स्पष्ट स्वरूप का भेद है। संप्रज्ञात के सजातीय (समान होने से), धारणादिक तीनों अंतरंग साधन हैं। अवृत्तिक जो असंप्रज्ञात है उसके विजातीय होने से (संप्रज्ञात के अन्तरंग जो धारणादिक हैं सो) वहिरंग हैं। ऐसा ही सूत्र में कहा है:—"वह संप्रज्ञात भी निर्बीज समाधी का बहिरंग साधन है।" इति॥ उसके उपकारीपने के प्रकट करने के वास्ते सूत्र कहते हैं:—

"श्रद्धा से वीर्य यानी उत्साह से, स्मृति से, समाधी यानी एकाग्रता से और विवेक प्रज्ञा पूर्वक देवताओं से पृथक् जनों को निरुद्ध समाधी होती है।" ॥इति॥ किन ही देवादिकों की पूर्व सूत्र में जन्म से ही समाधी कहकर मनुष्यों के लिए यह कहा है। मेरे लिए यह योग ही परम पुरुषार्थ का साधन है यह भाव यानी समझ श्रद्धा है, वह श्रद्धा बड़ाई सुनने से उत्पन्न होती है। वह बड़ाई स्मृति में कही है:—

"योगी तपस्वी जनों से अधिक हैं, ज्ञानियों से भी अधिक माना है योगी कर्मिष्ठ जनों से भी अधिक हैं, इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो।" इति॥ तप उत्तम लोक का साधन होता है, कृच्छ्र चान्द्रायण आदिक तप से और ज्योतिष्टोम आदिक कर्म से भी योग अधिक है। ज्ञान के प्रति अन्तरंग साधन होने से और चित्त की विश्रान्ति का हेतु होने से ज्ञान से भी अधिक है। इस प्रकार के उत्कर्ष ज्ञान से योग में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस श्रद्धा के दृढ़ होने से वीर्य यानी उत्साह होता है कि मैं सर्व प्रकार से योग संपादन करूँगा। ऐसे उत्साह से तब उस के अनुष्ठान करने योग्य योग के अंगों का स्मरण होता है। और उस स्मृति से समाधी के अनुष्ठान को सम्पादन करने वाले पुरुष के अन्तःकरण की शुद्धी होने पर ऋतंभरा प्रज्ञा उदय हो जाती है। उस प्रज्ञा के पूर्व सिद्ध हो जाने से उस प्रज्ञा ही के कारण देवादिकों से अन्य नीची श्रेणी वाले मनुष्यों को असंप्रज्ञात समाधी सिद्ध हो जाती है। उस प्रज्ञा को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"उस शुद्ध अन्तःकरण में ऋतंभरा प्रज्ञा उदय होती है।" इति॥ ऋतं यानी सत्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को

प्रज्ञा प्रकाशती है, वह ऋतम्भरा प्रज्ञा है उस संप्रज्ञात समाधी के अधिक अभ्यास से अन्तःकरण की विशुद्धी के उत्पन्न होने पर ऋतंभरा प्रज्ञा उदय होती है यह अर्थ हुआ। ऋतंभरा अवस्था में युक्ति को सूत्र द्वारा कहते हैं:—

"ऋतंभरा प्रज्ञा, शास्त्र श्रवण से जानने वाली और अनुमान से जानने वाली जो प्रज्ञा है उससे भिन्न विषय वाली है, क्योंकि विशेष अर्थ वाली यानी सत्य वस्तु को विषय करने वाली है।" इति ॥ सूक्ष्म समीप और दूर की वस्तुओं में अयोगी को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। शास्त्र से और अनुमान से उन वस्तुओं को अयोगी लोग जानते हैं। परन्तु यह योगी का प्रत्यक्ष विशेष वस्तु का प्रकाशक है, इसलिए वह ऋतंभरा है। वह योगी का प्रत्यक्ष यानी साक्षात्कार असंप्रज्ञात समाधी की बाहिरंगता की सिद्धी के लिए उपकारी है यह सूत्र द्वारा कहते हैं:—"ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार दूसरे संस्कारों के विरोधी हैं" ॥ इति ॥ असंप्रज्ञात समाधी के बहिरंग साधन ऋतंभरा प्रज्ञा का कथन करके अब उसके निरोध का प्रयत्न असंप्रज्ञात का अन्तरंग साधन है, यह बात सूत्र द्वारा कहते हैं:—

"उस प्रज्ञा का निरोध होने से सब का निरोध हो जाने से निर्बीज समाधी सिद्ध होती है। वह यह समाधी सुषुप्ती के समान है, साक्षी चैतन्य से अनुभूत हो सकती है। यह समाधी सर्व वृत्तियों से रहित होने से सुषुप्ती ही है, यह न शंका करना क्योंकि मन के स्वरूप के भाव अभाव का भेद है" यही गौड़ पादाचार्य ने कहा है:—

"बुद्धिमान पुरुष के निर्विकल्प निरुद्ध मन का जो प्रवेश है, वह तो विज्ञेय है (यानी अपरोक्ष ज्ञान स्वरूप है कोई क्रियात्मक प्रवेश नहीं है) सुषुप्ति से भिन्न है उसके समान नहीं है।

क्योंकि वह सुषुप्त मन सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लीन हो जाता है, परन्तु निरुद्ध मन लीन नहीं होता है, वह तो निर्भय ब्रह्म ही है, सब ओर से प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही है ॥" इति ॥

"प्राज्ञ और तुर्य दोनों अवस्थाओं में द्वैत का अग्रहण समान ही है, (इतना साधर्म्य है) परन्तु प्राज्ञ कारण अज्ञान के सहित होता है और वह कारण अज्ञान तुर्य साक्षी में नहीं है।" (यह वैधर्म्य है) इति ॥ प्रथम के दोनों यानी विश्व और तैजस दोनों जो स्वप्न और निद्रा हैं उनके सहित होते हैं परन्तु प्राज्ञ स्वप्न रहित होता है, केवल निद्रा यानी अज्ञान के सहित होता है यथावत् निश्चय वाले लोग तुर्य में न निद्रा को ही देखते हैं और न स्वप्न को। अन्यथा ग्रहण से स्वप्न होता है और तत्व के अज्ञान से निद्रा होती है दोनों प्रकार के मिथ्या ज्ञान के क्षीण होने पर तुरीय पद को प्राप्त होता है ॥इति॥ आद्यौ = विश्व और तैजस। अद्वैत वस्तु का अन्यथा ग्रहण प्रसिद्ध द्वैत रूप से प्रतीत होता है। और वह विश्व तैजस दोनों में वर्तमान होकर स्वप्न नाम से कहलाता है। तत्व का अज्ञान निद्रा है और वह विश्व तैजस तथा प्राज्ञ तीनों में वर्तमान है। उन विश्व तैजस के स्वरूपभूत स्वप्न और निद्रा दोनों का विपर्यास मिथ्या ज्ञान है। उसकी विद्या से क्षीणता होने पर तुरीय पद अद्वैत वस्तु की प्राप्ती होती है।

शंका:—इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधी और सुषुप्ति का महान भेद रहो। उन दोनों में से तत्व जिज्ञासु के लिये दर्शन के साधन रूप समाधी की आवश्यकता भी है परन्तु तत्व साक्षात्कार वाले को जीवन्मुक्ति के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि राग द्वेषादिक क्लेश रूप बंधन की, सुषुप्ति से भी निवृत्ति हो जाती है।

समाधान:—ऐसा नहीं है। क्या प्रतिदिन स्वतः प्राप्त किसी समय की सुषुप्ति बन्धन की निवर्तक है अथवा अभ्यास से निरन्तर रहने वाली सुषुप्ति। प्रथम पक्ष में भी क्या सुषुप्ति काल वाले क्लेश रूप बन्ध की निवृत्ति होनी है, अथवा अन्य समय के क्लेश बंध की निवृत्ति होगी। प्रथम पक्ष की प्रथम शंका तो ठीक नहीं है, क्योंकि तब क्लेश का प्रसंग ही नहीं है क्योंकि मूढों को भी सुषुप्ति अवस्था में क्लेश बन्धन नहीं होता है। ऐसा

न मानें तो पीडा थकावट पूतीत होनी चाहिये। दूसरी शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि असंभव है। अन्य काल की सुषुप्ति से अन्य काल के वर्तमान क्लेश का नाश होना असंभव है। ऐसा न मानें तो मूढ़ों के भी जाग्रत स्वप्न के क्लेशों का नाश हो सके। सुषुप्ति का निरन्तर अभ्यास भी नहीं हो सकता है क्यों कि कर्मों के क्षय रूप निमित्त से वह सुषुप्ति तब उदय होती है जब उस समय के देने वाले कर्म नहीं रहते हैं इस लिये तत्व ज्ञानी को भी क्लेश के क्षय के लिये असंपूज्ञात समाधी की अवश्यकता अवश्य रहती है।

(१) गो आदिक की न्याईं वाणी का निरोध उस समाधी की पूथम भूमी है (२) बाल मूढादिक की निर्मनस्ता यानी मन के संचार का अभाव दूसरी भूमी है (३) निद्रालू की न्याईं अहंकार से रहित होना तीसरी भूमी है (४) सुषुप्ति की न्याईं, महतत्व से रहित होना चतुर्थ भूमी है। उस इस भूमी चतुष्टय के अभिप्राय से "शनै शनै रुपरमेद यह वाक्य कहा है, और इस उपरामता यानी निरोध में, "धीरज से ग्रहण की हुई बुद्धि" साधन है।

जिस पूकार, आप ही तीव्र वेग युक्त पूवाह वाली किनारों को काटती हुई नदी के निरोध में महान धैर्य आवश्यक है इसी पूकार महतत्व अहंकार मन और वाणी आदिकों के निरोध में महान धीरज की आवश्यकता है। "बुद्धि" नाम यहां विवेक का है कि पूर्व भूमी का विजय हुआ या नहीं? यह परीक्षा करके यदि विजय हुआ हो तो आगे की भूमी के विजय करने का आरंभ करे। प्रथम भूमी के विजय न होने पर तो उसी उसी का पुनः पुनः जो अभ्यास है सो यह उस उस समय विवेक से कर्तव्य है। "आत्म संस्थं" इत्यादिक, डेढ श्लोक से चतुर्थ भूमी का अभ्यास भी कहा है। गौड पादाचार्य कहते हैं:—

"कामना और विषय भोगों में विक्षिप्त मनको उपाय से निग्रह करे, और निद्रा में निमग्न मनको भी निग्रह करे जिस प्रकार काम समाधी में

विघ्न रूप है, इसी प्रकार लय यानी निद्रा भी विघ्न रूप है"। "सब दुःख रूप है" यह पुनः पुनः स्मरण करके विषय भोग से मनको हटावे "सब अज है" यह पुनः पुनः चिन्तन करके, कुछ भी तो जात यानी उत्पत्तिमान दृश्य को नहीं देखता है लय होने पर चित्त को जगावे पुनः विक्षिप्त को शान्त करे कषाय युक्त अर्थात् राग द्वेष के संस्कार वाले चित्त को विचार से जान ले, और ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए चित्त को (व्यर्थ की आशंकाओं द्वारा) लक्ष्य से चलायमान न करे। उस ब्रह्म की सम्प्राप्ति में सुख का आस्वादन न करे प्रज्ञा से संग रहित रहे, (यानी सुखी ब्रह्म भूत प्रज्ञा के धर्म से अपने आत्म स्वरूप को असंग समझे) बाह्य मुख चित्त को प्रयत्न से एकी यानी ब्रह्म मय और निश्चल करे।

जब चित्त निद्रा ग्रस्त न हो, विक्षिप्त न हो, राग द्वेषादि संस्कारों से रहित और अनाभास यानी बिना रसा स्वाद के हो तब ब्रह्म में स्थिति को प्राप्त होता है ॥इति॥ लय, विक्षेप, कषाय, और ब्रह्म प्राप्ति यह चित्त की चार अवस्था हैं:-उन में से विषयों से हटाया हुआ निरोध वाला चित्त, यदि पूर्व अभ्यास के वश से निद्रा के अथवा सुषुप्ति के सन्मुख हो जावे तब उत्थान के प्रयत्न द्वारा अथवा लय के कारण को निवृत्त करके चित्त को सम्यक् प्रबोधित करे। लय के कारण निद्रा का शेष रहजाना (पूरी नींद न आना थोड़ी रहजाना) अजीर्ण बहुत भोजन और परिश्रमादिक हैं। इसीलिये कहते हैं:—

"संपूर्ण निद्रा को प्राप्त करके शीघ्र पचने वाले अल्प भोजन परायण होकर परिश्रम त्यागी बाधा रहित एकान्त देश में सदा तृष्णा रहित और प्रयत्न रहित होकर स्थित होवे, अथवा निज अभ्यास के मार्ग से प्राणों का निरोध करे निद्रा से उठाया हुआ चित्त दिन प्रति दिन ज्ञानाभ्यास के वश से यदि कामना और भोगों से विक्षेप को प्राप्त हो तब विवेकी जनों को प्रसिद्ध जन्मादि रहित अद्वितीय ब्रह्म तत्व के पुनः पुनः स्मरण पूर्वक और

भोग्य वस्तु के अदर्शन द्वारा, पुनः पुनः विक्षेप से चित्त को शांत करे। कषाय चित्त का तीव्र यानी अति बलिष्ट दोष है, जो तीक्ष्ण राग द्वेषादिक की वासना है उससे ग्रस्त चित्त कदाचित् समाहित की न्याई लय विक्षेप से रहित दुःख से दबा हुआ एकाग्रवत, स्थित होता है (वह दबे जाते हुए चित्त की शून्य अवस्था है) उस वैसे चित्त को विचार से स्पष्ट जानले। यानी विवेक द्वारा समाहित चित्त से अलग करके जाने यह समाहित नहीं है ऐसा जान कर लय विक्षेप वत् कषाय निवृत्ति का भी उपाय करे। सम शब्द से ब्रह्म कथन किया है।

"सर्व प्राणियों में सम यानी ब्रह्म परमेश्वर को जो जानता है" यह स्मृति है। लय विक्षेप कषाय से निरुद्ध हुए शेष बचे हुए चित्त को सम ब्रह्म प्राप्त होता है। उस सम प्राप्त चित्त को कषाय और लय की भ्रान्ति से चलायमान न करे। सूक्ष्म बुद्धि से लय कषाय का विवेचन करके सम ब्रह्म प्राप्ति होने पर उस चित्त को अति प्रयत्न से दीर्घ काल पर्यन्त स्थापन करे। उस चित्त के ब्रह्म में स्थित होने पर ब्रह्म स्वरूप भूत परमानन्द का सम्यक् उदय होता है और ऐसा ही कथन किया है:—

"जो अत्यन्त सुख रूप है विशुद्ध बुद्धि से ग्राह्य इन्द्रियों का अविषय है ॥इति॥

और श्रुति प्रमाण भी है:—"समाधी से दग्ध हो गये मल जिसके ऐसे आत्मा में निरुद्ध चित्त को जो सुख होता है वह तब वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है वह आत्म सुख तब शुद्ध अन्तःकरण से ही अनुभव होता है ॥इति॥

शंकाः—समाधी से प्रकट हुए ब्रह्मानंद की बुद्धि ग्राह्यता श्रुति स्मृति द्वारा कथन की गई। आचार्य ने तो "वहां सुख का आस्वादन न करे" ऐसे बुद्धि ग्राह्यता का निषेध किया है।

समाधान :—यह दोष नहीं है वहां समाधी में निरोध सुख की बुद्धि ग्राह्यता का निषेध नहीं किया है किन्तु समाधी के विरोधी, व्युत्थान रूप सुख के स्मरण का ही निषेध किया है। जिस प्रकार गर्मी के दिनों में दो पहर में गंगा जी के कुण्ड में डुबकी लगाने से अनुभव में आया हुवा भी ठंड का सुख तब (डुबकी की दशा में) वाणी से नहीं कहा जा सकता है। पीछे उठकर उस सुख का कथन होता है और जिस प्रकार सुषुप्ति में अति सूक्ष्म अविद्या की वृत्ति से अनुभूत होता हुवा स्वरूप सुख, तब सुषुप्ति काल में सविकल्प अन्तः करण के वृत्ति ज्ञान द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। जागने के समय तो स्मृति से विस्पष्ट चिन्तन किया जाता है इसी प्रकार समाधी में वृत्ति रहित चित्त से अथवा संस्कार मात्र से शेष रहे हुए सूक्ष्म चित्त से सुख का अनुभव श्रुती स्मृति द्वारा, कहना इष्ट है।

"मैंने इस महान समाधी सुख का अनुभव किया" इस ऐसे व्युत्थान को प्राप्त हुए पुरुष का सविकल्प वाला चिन्तन यहां "आस्वादन" है। सो यह ही आचार्य ने निषेध किया है। उसही अपने अभिप्राय के प्रकट करने को "निःसंग प्रज्ञया भवेत्" अर्थात् सविकल्प सुख स्मरण वाली प्रज्ञा के राग से रहित होवे अथवा उससे असंग होवे यह कहा है। अत्यन्त सविकल्प ज्ञान का नाम प्रज्ञा है उसके साथ संग परित्याग करे। अथवा पूर्वोक्त धैर्य से निग्रह की हुई बुद्धि प्रज्ञा है वैसे साधन द्वारा सुख के आस्वादन और उसके वर्णन आदिक रूप आसक्ति को परित्याग करे। समाधी में ब्रह्मानन्द में डूबा हुआ चित्त यदि कदाचित अथवा सुख के आस्वादन के लिये अथवा शीत वायु, मच्छर आदिक उपद्रव के कारण बहिर्मुख हो जावे तब बाह्य मुखी चित्त को पुनः पुनः जैसे निश्चल हो वैसे ब्रह्म के साथ एकी करे। उसमें निरोध का प्रयत्न ही साधन है। "यदा न लीयते" अर्थात् जब लीन न होवे इत्यादिक श्लोक से एकी भाव को ही स्पष्ट किया है। अलिगंन और अनाभास इन दोनों पदों से कषाय और सुखास्वाद का निषेध किया है। लय

विक्षेप कषाय और रसास्वाद से रहित चित्त निर्विघ्न ब्रह्म में स्थित होता है। इसी अभि प्राय से कठवल्ली उपनिषद् में कहा है :—

जब मन के सहित पांचों ज्ञान इन्द्रियां निग्रहीत होती हैं यानी अपने अपने विषय से निरुद्ध होती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है उस अवस्था को परमगति कहते हैं।

उस स्थिर इन्द्रियों की धारणा को योग नाम से मानते हैं तब अभ्यासी प्रमाद रहित होता है क्योंकि योग उत्पत्ति नाश वाला है॥" इति॥

अभ्यास छोडा हुवा योग इन्द्रियों की वृत्तियों को उत्पन्न करता है और जब अनुष्ठान होवे तब उन वृत्तियों के निग्रह होजाने का कारण है। इस लिये ही योग के स्वरूप लक्षण को सूत्र द्वारा कहते हैं कि "चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है" ।इति॥ वृत्तियों के अनन्त होने से निरोध असंभव होगा, इस शंका के निवारण करने के लिये वृत्तियों के परिमाण को सूत्र द्वारा कहते हैं:—बहुत चित्त होते हैं उन में से एक एक चित्त की "वृत्तियां क्लेश युक्त और अक्लेश युक्त इस भेद से पांच प्रकार की होती है॥ इति॥

राग द्वेषादि क्लेश युक्त असुरों वाली वृत्तियां क्लिष्ट कहलाती हैं रागादि से रहित दैवी वृत्तियां अक्लिष्ट कहलाती हैं। यद्यपि क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का पांचों में ही अन्तर्भाव है तो भी क्लिष्ट वृत्तियों का ही निरोध होना चाहिये इस मन्द बुद्धि के निवारण करने के लिये उनके साथ अक्लिष्ट वृत्तियों को भी कह दिया है। धारण करने योग्य उनके नाम और लक्षणों द्वारा वृत्तियों के स्वरूप के प्रकट करने को षट सूत्रों का कथन करते हैं:—

(१) प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति यह पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं। (२) प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र या आप्तवक्ता के वचन

प्रमाण होते हैं। (३) वास्तव रूप में स्थित न होने वाला मिथ्या ज्ञान विपर्यय होता है जैसे रज्जु सर्प। (४) शब्द ज्ञान से पीछे होने वाली परन्तु विषय से शून्य वृत्ति विकल्प होती है जैसे ख पुरुष। (५) अभाव के कारण तम को आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है, जैसे मैं सुख से सोया; दुख से सोया इत्यादिक। (६) अनुभूत विषय की अचौरता (यथाभूत स्मरण) स्मृति है।

जिस अज्ञान के आवरण करने पर वस्तु के स्वरूप की अप्रतीति होती है वह अज्ञान रूप तम अभाव प्रत्यय वाला है। तमोगुण को विषय करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है (ज्ञानाभाव निद्रा नहीं हैं)। अनुभूत विषय का असंप्रमोष उसके यथावत् अनुभव जन्य चिन्तन का नाम है। पंच प्रकार के वृत्ति निरोध के साधन को सूत्र द्वारा कहते हैं:—"सम्मिलित अभ्यास वैराग द्वारा वृत्तियों का निरोध होता है।" इति ॥

जिस प्रकार तीव्र वेग युक्त नदी के प्रवाह को सेतु बन्धन द्वारा रोक कर नाली द्वारा निकाल कर क्षेत्र के सन्मुख दूसरा तिरछा प्रवाह उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार वैराग से चित्त रूपी नदी के विषय प्रवाह को रोक कर समाधी अभ्यास द्वारा प्रशान्त प्रवाह (शान्ति यानी निरोध की धारा को) उत्पन्न करते हैं।

शंका:—मंत्र का जप, देवता का ध्यानादिक क्रिया रूप हैं, उनकी आवृत्ति रूप अभ्यास सम्भव हो सकता है, परन्तु सर्व व्यापार के निरोध रूप समाधी का कौनसा अभ्यास प्रसिद्ध है ?

समाधान:—यह शंका निवृत्त करने के लिए सूत्र कहते हैं:—"उस में स्थिति का यत्न अभ्यास है" ॥ इति ॥ निश्चल स्थिति का नाम निरोध है। मन के उत्साह का नाम यत्न है। आप से आप ही मैं स्वयं बाह्यमुखी चित्त को सब प्रकार से निरुद्ध करूँगा यह इस प्रकार का उत्साह बारम्बार किया हुआ यानी फिर फिर दोहराया हुआ अभ्यास नाम से कहलाता है।

शंकाः—यह अभ्यास तो अभी किया गया है, आप कच्चा है अनादि काल से प्रवृत्त हुई व्युत्थान की वासनाओं को कैसे दबावेगा ?

समाधानः—इस शंका के निवृत्त करने के लिये सूत्र को कहते हैं:— "वह अभ्यास तो दीर्घ काल निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवन किया हुआ दृढ़ स्थिति वाला यानी पक्का होता है" ॥इति॥ लोग किसी मूर्ख के वचन को कहते हैं कि वेद तो चार ही विद्यमान हैं उनके अध्ययन करने को गये हुए बालक को पांच दिन लग-गये, अब तक भी वह बालक लौट कर नहीं आया ॥इति॥ तब तो यह योगी वैसा ही होगा जब दिनों अथवा मासों में योग सिद्धी की इच्छा करता हो, इस लिये बरसों तक अथवा जन्म भर दीर्घ काल तक योग का अभ्यास करना चाहिये। और ऐसा ही स्मृति में कहा है:—

"अनेक जन्मों के अभ्यास से अन्त के जन्म में सम्यक् सिद्ध हुआ हुआ परम गति को प्राप्त होता है" ॥इति॥

दीर्घ काल तक अभ्यास करते हुए भी यदि बीच २ में छोड़ कर अभ्यास किया जावे तो तुरन्त पीछे उत्पन्न हुए छूटे हुए समय के व्युत्थान संस्कारों द्वारा उत्पन्न हुए योग संस्कारों के दब जाने पर खण्डकार का कथन किया हुआ न्याय, लागू हो जावेगाः—"आगे दौड़ते हुए (यानी पढ़ते जाते हुए) और पीछे का पढ़ा भूलते जाते बालक की न्याई क्या प्राप्ती होसकेगी"। इसलिये निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। सत्कार नाम आदर का है अनादर पूर्वक अभ्यास करने से वसिष्ठजी की कही हुई युक्ति लागू हो जावेगीः—

चित्त यदि वासना क्षय वाला हो तो कर्ता भी अकर्ता है, जैसे कि कथा श्रवण काल में दूर चले गये मन वाले मनुष्य का सुना हुआ भी मानो बेसुना हुआ है, तद्वत ॥ इति ॥

लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद के त्याग न करने का नाम, अनादर है। इसलिए आदर पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। दीर्घ कालादिक

तीन प्रकार से अभ्यास की हुई समाधी का दृढ़ भूमी वाली होना प्रसिद्ध विषय सुख की वासना से और दुःख की वासना से भी न चलायमान हो सकता है। और सो भगवान ने दिखलाया है:—

"जिसको प्राप्त होकर उस से अधिक लाभ को नहीं मानता है, और जिसमें स्थित हुआ बड़े दुःख से भी (अपनी निष्ठा से) चलायमान नहीं होता है ॥ इति ॥

आत्म लाभ से अन्य लाभ के अधिक न होने को वसिष्ठ जी ने कहा है, "कच ने कभी समाधी से उठकर निर्मल प्रसन्न मन होकर एकान्त में गद्‌गद् वाणी से यह इस प्रकार कथन किया":—

मैं क्या करूँ, कहां जाऊँ, क्या ग्रहण करूँ, क्या त्याग करू। विश्व आत्मा से इस प्रकार पूर्ण व्याप्त है जैसे महा कल्प प्रलय में जल से होता है बाह्य अभ्यन्तर सहित देह में ऊपर नीचे और दिशाओं में इधर भी आत्मा है, उधर आत्मा है अनात्म जगत् कुछ भी नहीं है। जहां मैं न हूँ वह जगह नहीं है, वह कुछ नहीं है जो मुझ में न हो, मैं और क्या इच्छा करूँ सर्व चिन्मय व्याप्त है।

सर्व पर्वत बे अन्त शुद्ध ब्रह्म रूपी समुद्र के फेन हैं, जगत की विभूतियां चैतन्य ब्रह्म रूपी सूर्य के तेज में होने वाली मृगतृष्णा हैं। बड़े दुःख से भी चलायमान न होना, सिखिध्वज के तीन वर्षों के समाधी के वृतान्त द्वारा वसिष्ठ जी ने कथन किया है:—(चूडाला रानी ने) वहां निर्विकल्प समाधी में स्थित महीपति को देखा, और प्रथम मैं राजा को उस परमपद से जगाऊं। यह सम्यक् विचार कर उस चूडाला ने अपने प्रभु शिखिध्वज के सन्मुख पुनः पुनः मृगादि वन के जीवों को भय देने वाले सिंहवत् गर्ज के शब्द को किया।

हे रामजी! जब वह शिखिध्वज राजा फिर फिर अधिक २ करने पर भी उस नाद के शब्द से चलायमान नहीं हुआ, तब उस रानी ने उसको वेग से

हिलाया। हिलाया हुआ और गिराया हुआ भी वह ज्ञानी तब न जागा ॥इति॥ प्रह्लाद के वृत्तान्त से भी यह ही कथन किया है:—

"यह आत्म विचार करते हुए ही शत्रु नासक प्रह्लाद ने परमानन्द रूप निर्विकल्प समाधी में स्थिति की। निर्विकल्प समाधी में स्थित होकर, वह लिखित मूर्ति के समान शोभित हुआ। पांच हजार वर्ष तक पुष्ट शरीर वाला एक दृष्टी होकर स्थित रहा।

हे महात्मा! जाग्रत को प्राप्त होजाओ यह कथन भी इस प्रकार विष्णु भागवान ने किया। और दिशा समूह को पूर्ण करते हुए पांचजन्य नामक शंख को बजाया। विष्णु के श्वास से निकले हुए उस महान शब्द से दानवों का पति प्रह्लाद धीरे धीरे सम्यक् जाग्रत को प्राप्त अन्तःकरण वाला हुआ ॥इति॥

इसी प्रकार, वीत हव्यादिकों की समाधी भी उदाहरण रूप है। वैराग दो प्रकार का होता है एक तो अपर वैराग और दूसरा पर वैराग। यतमान व्यतिरेक एकेन्द्रिय और वशीकार इस भेद से अपर वैराग चार प्रकार का है। उन में से प्रथन तीनों को अर्थ से सूचित करते हुए, चौथे वैराग को सूत्र द्वारा कहते हैं कि "इस लोक के दृष्ट जो प्रत्यक्ष विषय हैं, उन से और शास्त्र में जो स्वर्गादिक श्रवण किये हैं, उन विषयों से तृष्णा रहित पुरुष को वशीकार नामक वैराग होता है ॥इति॥ माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, मित्र, क्षेत्र धनादिक दृष्टि विषय हैं। वेदोक्त स्वर्गादिक आनुश्रविक विषय हैं। उन दोनों में, तृष्णा के होते हुए भी विवेक की न्यूनाधिकता से, यतमानादिक तीनों वैराग होते हैं।

(१) इस जन्म में, क्या सार है क्या असार है यह मैं गुरु शास्त्र द्वारा जानूं ऐसा उद्योग यतमान वैराग है।

(२) स्व चित्त में, पूर्व से विद्यमान दोषों में से, विवेक के अभ्यास से हृदय में से इतने दोष तो निवृत्त होगये, इतने दोष शेष रहते हैं, यह विवेक करना व्यतिरेक वैराग है।

(३) दृष्ट जो इस लोक के विषय और आनुश्रविक जो परलोक के स्वर्गादिक विषय हैं उनमें प्रवृत्ति दुःख रूप है इस बोध से उन विषय संबंधी प्रवृत्ति को त्याग कर मन की राग मात्र से तृष्णा पूर्वक स्थिति एकेन्द्रिय वैराग्य है।

(४) तृष्णा रहित होना वशीकार वैराग है।

सो यह अपर वैराग, अष्टांग योग का (प्रवृत्त करने वाला) साधन होने से, संप्रज्ञात का अन्तरंग है। परन्तु असंप्रज्ञात का बहिरंग है। उसके अन्तरंग पर वैराग को, सूत्र द्वारा कहते हैं:—

"पुरुष के साक्षात्कार से जो सत्वादि गुणों में तृष्णा का अभाव है, सो पर वैराग है" ।।इति।। संप्रज्ञात समाधी के अनुष्ठान के चातुर्य से गुण त्रयात्मक प्रकृति से पृथक किये हुए पुरुष की ख्याति होती है यानी उस का साक्षात्कार होता है। और उस साक्षात्कार से अशेष गुण त्रय के व्यवहार में (यानी अणिमादि सिद्धियों में) जो तृष्णा का अभाव है सो पर वैराग है। उसकी न्यूनाधिकता से, समाधी की शीघ्र प्राप्ति के न्यूनाधिक भाव को सूत्र द्वारा कहते हैं:—

"तीव्र संवेग यानी तीव्र वैराग वालों को अत्यन्त शीघ्र समाधी का लाभ होता है।" ।।इति।। संवेग नाम वैराग का है। उस वैराग के भेद से योगी तीन प्रकार के हैं:—मृदु वैराग वाले, मध्यवैराग वाले, और तीव्र वैराग वाले। आसन्न शब्द का यह अर्थ है कि अल्प काल में ही समाधी का लाभ हो जाता है। तीव्र वैराग में ही समाधी की तारतम्यता को (न्यूनाधिक भाव को) सूत्र द्वारा कहते हैं:—तीव्र, अति तीव्र और अत्यन्त तीव्र इन भेदों से पूर्व पूर्व से उत्तर, उत्तर की विशेषता है। मृदु तीव्र, मध्य तीव्र और अधिमात्र तीव्र यह वैराग की अधिकता के भेद हैं। उनमें भी जो उत्तर के हैं उनको शीघ्र समाधी की सिद्धि होती देखी है सब से उत्तम

जो जनक प्रह्लादादिक हैं वह अधिमात्र तीव्र यानी अत्यन्त वैराग वाले हैं क्योंकि मुहूर्त्तमात्र के विचार से उनको दृढ़ समाधी का लाभ हुआ। जो अधम से अधम श्रेणीके हैं उन उद्दालक आदिक को मृदु संवेग होते हैं क्योंकि दीर्घकाल के नाम से उनको समाधी लाभ हुआ। इस प्रकार अन्यों की भी यथा योग्य कल्पना कर लेनी।

सो इस प्रकार अत्यन्त तीव्र वैराग की दृढ़ स्थिति में असंपूज्ञात समाधी के प्राप्त होने पर पुनः उत्थान होना असंभव होने से मन का नाश हो जाता है। मन के नाश से वासना त्तय की रत्ता होने से जीवन्मुक्ति सुप्रतिष्ठित (अत्यन्त दृढ़) होती है। मनोनाश से विदेह मुक्ति ही होती है जीवन्मुक्ति नहीं होती, यह शंका नहीं करनी, प्रश्नोत्तर द्वारा उसका निर्णय कर दिया है:—

श्री रामजी:—"हे मुने! विवेक के उदय होने से चित्त के स्वरूप के लीन होने पर योगियों के मैत्रि आदिक गुण कैसे उत्पन्न होते हैं यह कथन कीजिये?"

श्री वसिष्ठजी:—दो प्रकार से चित्त का नाश होता है, एक तो रूप सहित और दूसरा रूप रहित भी। जीवन्मुक्ति में सरूप मनोनाश होता है (यानी मनका नाश तो हो जाता है परन्तु आकार मात्र बना रहता है, जैसे कि रज्जु जलने पर आकार मात्र बना रहता है तद्वत्) विदेह मुक्ति में अरूप मनोनाश होता है।

प्रकृति के गुणों के कार्य को यह मेरा है इस प्रकार बहुत मानता है, सुख दुःखादि युक्त मनको विद्यमान कहते हैं।

हे रघुकुल में श्रेष्ठ! मैंने चित्त की सत्ता कही है हे पूश्न के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ! उसके नाश को तुम अब सुनो।

जिस धीर पुरुष को सुख दुःख की दशा सम भाव से (यानी ब्रह्म भाव से) नहीं चला सकती हैं जिस पूकार श्वास पर्वत को नहीं हिला सकते हैं तद्वत् उसके चित्त को ज्ञानी जन मरा हुआ जानते हैं।

आपत्ति, दीनता, उत्साह, मद, मन्दता और महान् उत्सव जिसको विकारी नहीं कर सकते हैं यानी बदल नहीं सकते हैं उसके मनको विद्वान् नष्ट हुआ कहते हैं ।

क्योंकि हे राघव ! जब आशा वाला चित्त नष्ट हो जाता है, और मैत्री आदिक गुणों से युक्त होता है, तब पूर्ण सत्व उदय होता है। पुनर्जन्म से विनिर्मुक्त वह जीवन्मुक्त का मन होता है सो जीवन्मुक्त पुरुष का सरूप मनोनाश है ।

हे रघुकुल में श्रेष्ठ ! जो मैंने अरूप नाश कहा है, वह निर्विशेष विदेह मुक्ति में ही होता है ।

समग्र उत्तम गुणों वाला चित्त भी, मल रहित, परम पवित्र, विदेह मुक्ति रूप पद में लीन हो जाता है।

दुःख सम्यक् शान्त हो गये जिस में चैतन्यात्मक एक रूप आनंद से पूर्ण जो रजतम से रहित पद है। आकाश कोश के सदृश सूक्ष्म परन्तु अशरीर (उपाधी रहित) उस महान पद में (यानी सत्व में) गलित चित्त के लेश वाले महा पुरुष, निवास करते हैं" ॥इति॥

"जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःख रूपी रस की स्थित में भ्रान्तियुक्त नहीं होते हैं, प्रारब्ध वशात् स्वभाविक प्रयोजन को लेकर कुछ करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ।"

इस लिए सरूप यानी चित्त के आकार संयुक्त जो मनोनाश है वह जीवन्मुक्ति का साधन है यह निर्णय हुआ ।

॥ इति मनोनाश निरूपण नाम तृतीय प्रकरण ॥

॥ हरि ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ चतुर्थ स्वरूप सिद्धि प्रयोजन

यह जीवन्मुक्ति क्या है ? उसमें क्या प्रमाण है ? उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है ? इन प्रश्नों का उत्तर कह चुके। और प्राप्ति भी हो जावें तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इस चौथे प्रश्न के उत्तर को अब कहते हैं:— ज्ञान की रक्षा, तप विवाद का अभाव, दुःख का नाश और सुख का उदय यह पांच प्रयोजन हैं।

शंकाः—वेदान्त प्रमाण से जन्य तत्त्व ज्ञान के बाध होने का (नष्ट होने का) भला क्या प्रसंग है, जिससे रक्षा की आवश्यकता है ?

समाधानः—इस कथन का यह उत्तर है कि ज्ञानवान् होकर भी चित्त की विश्रान्ति न होने पर संशय विपर्यय प्रसक्त हो जावेंगे। तत्त्वज्ञानी राघव के विश्रान्ति से पहले के संशय को विश्वामित्र जी ने कथन किया है:—

"हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ राघव ! तुम्हें अन्य ज्ञातव्य कुछ नहीं है। अपनी सूक्ष्म बुद्धि से तुम ने सब जान लिया है। तुम्हारी मति भगवान व्यास के पुत्र शुकदेव की न्याईं है। ज्ञेय के ज्ञाता होने पर भी यहां (मोक्ष प्रसंग में) केवल विश्रान्ति की ही आवश्यकता है॥ इति ॥

शुक को आप ही प्रथम तत्त्व ज्ञान हुआ था, उसमें संशय युक्त होकर पिता से प्रश्न किया, पिता ने वैसा ही उपदेश किया, फिर भी संशय करता हुआ जनक की शरण गया, उसने भी वैसा ही उपदेश किया, उस जनक के प्रति शुक ने इस प्रकार कहाः—

श्री शुकदेव ने कहाः—"मैंने आप ही प्रथम विवेक से यह जान लिया और पूछने पर यह उपदेश पिता जी ने भी मुझे किया।

हे वाग् वेत्ताओं में श्रेष्ठ ! आपने भी यही अर्थ कथन किया और यही आपके वाक्य का अर्थ शास्त्रों में देखा जाता है।

जिस प्रकार स्वविकल्प से उत्पन्न हुवा, यह पूर्व से ही दग्ध संसार सार से शून्य निश्चय होकर अपने विकल्प के नाश होने से क्षीण हो जावे। हे महावाहो! वह निश्चय क्या है, यह मुझे अचल सत्य कथन कीजिये भ्रमते हुए चित्त वाले का यह जगत् आपके कथन से ही विश्रान्ति को पावेगा।"

जनक ने कहा :—"हे मुने! इस से अधिक श्रेष्ठ कोई और निश्चय नहीं है तुमने स्वयं ही जान लिया और गुरु से भी पुनः श्रवण कर लिया।

यहां परिच्छेद से रहित चिदात्मा एक ही पुरुष है दूसरा कुछ नहीं है। अपने संकल्पके आधीन होकर बंधता है परन्तु संकल्प रहित होकर मुक्तहो जाता है।

इससे तुमने ज्ञेय को स्पष्ट जान लिया और इस संसार में संपूर्ण दृश्य से और भोगों से आप महात्मा को वैराग्य हो गया। आपने पूर्ण चित्त से संपूर्ण पाने योग्य को पालिया, हे ब्रह्मन्! आप दृश्य के लिये यत्न नहीं करते हैं आप मुक्त हैं भ्रान्ति को छोड़ये। जनक महात्मा के ऐसे उपदेश होने पर उस शुकदेव ने तूष्णी (यानी निर्वासनीक) होकर स्वरूप में स्थित (यानी अन्य आधार से रहित) परमात्म वस्तु में विश्राम पाया।

शुक, शोक, भय और परिश्रम से रहित होकर चेष्टा से रहित और निवृत्त संशय वाला होकर अनिन्दित यानी विघ्न रूप दोषों से रहित मेरु के शिखर पर समाधी के लिये गया। वहां दस हजार वर्ष तक निर्विकल्प समाधी में स्थित होकर वह शुकदेव तेल रहित दीपक की न्याईं आत्म स्वरूप में शान्त होगया" ॥ इति ॥

इसलिये तत्व के साक्षात्कार होने पर भी विश्रान्ति युक्त पुरुष को शुक राघव की न्याईं संशय उत्पन्न हो जाता है। और वह अज्ञानकी न्याईं मोक्षका प्रतिबंधक यानी रोकने वाला विघ्न है। इसीलिये श्री भगवान ने कहा है:—

"अज्ञ और अश्रद्धालू तथा संशयात्मा पुरुष विनाश को प्राप्त होता है संशयात्मा के लिये न यह लोक है न परलोक है न उसको सुख होता है" इति॥

अश्रद्धा नाम विपर्यय का है। और वह आगे कथन करेंगे। अज्ञान और विपर्यय मोक्ष मात्र के विरोधी हैं। संशय तो भोग और मोक्ष दोनों का विरोधी है। क्योंकि वह संशय दो परस्पर विरुद्ध कोटियों का आश्रय लिये हुए है। जब संसार के सुख के लिये प्रवृत्ति होती है, तब तो उस की मोक्ष मार्ग वाली बुद्धि उसकी सुख प्रवृत्ति को रोकती है। और जब मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति होती है तब संसार वाली बुद्धी उस मोक्ष प्रवृत्ति को रोकती है इसलिये संशयात्मा को कुछ सुख नहीं है, यह समझकर मुमुक्षु ने सर्व प्रकार से संशय की निवृत्ति कर देना चाहिये। इसीलिये श्रुति में श्रवण किया है "सर्व संशय निवृत्ति हो जाते हैं" ॥इति॥ विपर्यय का भी निदाघ उदाहरण है। ऋभु ने परम करुणा से निदाघ के गृह जाकर उसको बहुत समझाकर वन को गमन किया। उससे उपदेश किये हुए तत्व वस्तु को जानकर भी भ्रम वश श्रद्धा रहित होकर कर्म ही परम पुरुषार्थ का हेतु है इस प्रकार निदाघ विपरीत भावना को प्राप्त होकर पूर्ववत् कर्म के अनुष्ठान में ही प्रवृत्ति होगया।

शिष्य परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट न होवे, यह सोच कर उस गुरु ने भी फिर आकर, ज्ञान समझाया। तब भी विपर्यय निवृत्त न हुआ परन्तु तीसरी बेर समझाने पर मिथ्या ज्ञान को त्याग कर विश्रान्ति को प्राप्त हुआ। असंभावना और विपरीत भावना रूप जो संशय और विपर्यय हैं इन से तत्व ज्ञान का फल प्रतिवद्ध हो जाता है। सो पराशर ने कहा है:—

"जिस प्रकार मणि, मन्त्र, और औषधि से प्रतिवद्ध हुई २ अग्नि, प्रज्वलित हुई २ भी, ईन्धन को जला ही नहीं सकती है इस ही प्रकार सम्यक् उत्पन्न हुई, प्रज्वलित और अत्यन्त तीव्र भी परन्तु प्रतिवद्ध हुई २ ज्ञान रूपी अग्नि कल्मष को अर्थात् पापों को जला ही नहीं सकती है।

हे शुक! जो मिथ्या ज्ञान रूप विपरीत भावना है और जो संशय रूप असंभावना है वह भावना ही ज्ञान के विषय में प्रतिबन्ध यानी विघ्न को करता है दूसरा और कोई नहीं।

इस लिये अविश्रान्त चित्त की संशय विपर्यय से और तत्वज्ञान के फल में विघ्न रूप हानी से रक्षा करने की आवश्यकता है। विश्रान्त चित्त का तो मनोनाश-द्वारा जगत ही नष्ट हो जाता है तब संशय विपर्यय का प्रसंग ही, कहां से हो सकता है। जगत की प्रतीति से रहित, ब्रह्मज्ञानी के देह का व्यवहार भी विना प्रयत्न के ही, परमेश्वर से प्रेरित प्राणवायु द्वारा हो जाता है। इसी लिये छान्दोग्य शाखा वाले श्रुति पाठ करते हैं:—"वह विद्वान इस उपजने वाले शरीर को नहीं स्मरण करता है, जिय प्रकार अश्वादिक गाडी में मार्ग पर जुड़े होते हैं, ऐसे ही इस शरीर में प्राण नियुक्त होते हैं। उपजन यानी जनों के समीप में स्थित शरीर को ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्मरण न करता हुआ व्यवहार करता है। पास में रहने वाले लोग ही तत्व ज्ञानी के शरीर को देखते हैं। आपतो मन से रहित होने से यह मेरा शरीर है इस प्रकार स्मरण नहीं करता है।

प्रयोग्य अर्थात् रथ गाड़ी आदिक के ले जाने में जोड़े जाने के योग्य, बैलादिक सिखाये हुए होते हैं, वह पशु जिस प्रकार सारथी द्वारा मार्ग के चलने में प्रेरा हुआ पुनः पुनः सारथि के प्रयत्न की अपेक्षा के विना आप ही रथ गाड़ी आदिक को आगे के ग्राम में ले जाता है, इस प्रकार ही यह प्राणवायु परमेश्वर द्वारा इस शरीर में नियुक्त होकर जीव के प्रयत्न से विना सत्य अथवा असत्य व्यवहार का निर्वाह करती है ॥ इति ॥

भगवान ने भी कहा है:—"देह नाशमान है समाधिस्थ वा उत्थान वाली रहे। जीवन्मुक्त पुरुष उसको नहीं देखता है, क्योंकि स्वरूप के साक्षात्कार वाला है जिस प्रकार कि मदिरा के मद से अन्धे पुरुष का पहना हुआ वस्त्र दैवयोग से शरीर पर रहे अथवा उतर जावे तद्वत् ॥"इति॥

वसिष्ठ जी ने भी कहा है:—सत् पुरुष समीपस्थ जन के जगाने से पूर्व आचार की रीती से प्राप्त आचार को बिना अंग भंग किये हुए यानी ज्यूं का त्यूं सुषुप्त से जाग्रत हुए की न्याई करता ही है" ॥इति॥

शंका:—सिद्ध यानी जीवन्मुक्त पुरुष शरीर को नहीं देखता है यह कह कर आचार को करता है, यह कहा। यह दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं।

समाधानः—यह शंका ठीक नहीं है। विश्रान्ति की न्यूनाधिकता से निर्णय हो जाता है। इसी न्यूनाधिकता के अभिप्राय को लेकर यह श्रुति प्रमाण है:—"आत्मा में क्रीड़ा वाला, आत्मा में रति वाला, सत्क्रिया परायण अथवा आत्मचिन्तन परायण हुआ यह पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है" इति ॥ इस प्रसंग में चार प्रकार के विद्वान् प्रतीत होते हैं:—ब्रह्मज्ञानी प्रथम है, ब्रह्मविद्वर द्वितीय है, ब्रह्मविद्वरीयान् तीसरा है और वरिष्ठ चौथा है। वे यह ज्ञानी चौथी योग भूमी से लेकर सातवीं योग भूमी तक क्रम से चारों भूमिकाओं को प्राप्त होते हैं यह जानना चाहिये। भूमिकाओं के स्वरूप को वसिष्ठ जी ने दर्शाया है:—

"प्रथम ज्ञान की भूमिका शुभेच्छा, कथन की है। विचारणा दूसरी भूमिका है तीसरी तनुमानसा है। सत्त्वापत्ति चौथी भूमिका है फिर पांचवीं असंसक्ति नाम वाली भूमी होती है, पदार्थाभावनी छठी भूमी है सातवीं तुर्यगा कही है ॥इति॥

"मैं क्यों मूढ होकर स्थित हूं, शास्त्र सज्जनों द्वारा स्वरूप को देखूं, वैराग पूर्वक इस इच्छा को ज्ञानी जन शुभेच्छा कहते हैं। शास्त्र द्वारा, सज्जनों के सत्संग से वैराग और अभ्यास के सहित सद्विचार में जो प्रवृत्ति है वह विचारणा कहलाती है। विचारणा और शुभेच्छा द्वारा जिस अवस्था में पदार्थों में जब आसक्ति का अभाव हो और वह सूक्ष्म होती जावे तब वह तनुमानसा योग भूमी कहलाती है।

तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के पदार्थों में वैराग के वश होने पर, रजोगुण तमोगुण से रहित अन्तः करण में शुद्ध आत्मा में स्थित होने पर वह सत्त्वापत्ति भूमिका कही जाती है।

परन्तु चारों दिशाओं के अभ्यास से, जो भूमिका असंसर्ग फल वाली होती है, तत्त्व साक्षात्कार रूपी निर्विकल्प समाधि में आरूढ़ चमत्कार वाली वह अवस्था असंसक्ति नाम वाली कहलाती है। पांचों भूमिकाओं के अभ्यास से स्वात्मा में निरन्तर रमण होने से अन्तर मनोमयी और वाह्य नाम रूपात्मक पदार्थों के अभाव होने पर चिरकाल में पर से प्रेरित होकर प्रयत्न द्वारा जाग्रत वाली पदार्थाभाविनी नाम वाली छटी भूमिका होती है।

छहों भूमिकाओं के दीर्घ काल पर्यन्त अभ्यास से भेद की अप्रतीति से जो एक स्वसत्ता में निरन्तर स्थित है वह तुर्यगा गति जानने योग्य है ।।इति।।

इस प्रसंग में प्रथम की तीनों भूमिका ब्रह्मज्ञान के साधन ही हैं, ज्ञान की श्रेणी के अन्तर वे नहीं हैं। क्योंकि तीनों भूमिकाओं में भेद की सत्यता की बुद्धि का निवारण नहीं होता है, इसीलिये यह जाग्रत रूप हैं यह कहाजाता है सो कहा है:—

"हे राम ! यह तीनों भूमिका तो जाग्रत रूप हैं यह निर्णय है। यथा-वत् भेद बुद्धि पूर्वक यह जगत् जाग्रत अवस्था में दिखाई देता है" ।।इति।। इसलिए वेदान्त वाक्य से निर्विकल्प ब्रह्म आत्मा की एकता की साक्षात्कार रूप, चौथी फल रूप भूमिका सत्त्वापत्ति है। चौथी भूमिका में सर्व जगत के उपादान कारण ब्रह्म को वास्तव अद्वितीय सत्ता स्वरूप निश्चय करके ब्रह्म में आरोपित जगत नाम वाले जो नाम और रूप हैं उन दोनों की मिथ्यारूपता का बोध हो जाता है। मुमुक्षु के लिए पूर्व कहे तीनों भूमिका रूप जाग्रत की अपेक्षा से यह चौथी भूमी स्वप्न रूप है सो कहा है:—

अद्वैत के स्थिर होने पर और द्वैत के निरुद्ध होने पर चतुर्थी भूमिका वाले जन संसार को स्वप्नवत् देखते हैं।

फटे हुए शरद काल के बादल के टुकड़ों के लीन होने की न्याईं द्वैत अत्यन्त विलय होजाता है, चतुर्थी भूमिका को प्राप्त हुआ पुरुष सत्ता मात्र ही होकर स्थित रहता है।

"जिस के ज्ञान से योगी लोग सब प्राणियों में अपने आप को और अपने से भिन्न व्यक्तियों को सन्मात्र रूप से उपासना करते हैं उस सद् रूप हरि को मैं प्रणाम करता हूं" ॥ इति ॥

सो यह चतुर्थी भूमि को प्राप्त हुवा योगी ब्रह्मविद् इस नाम से कह लाता है। पंचम आदिक तीनों भूमियां जीवन्मुक्ति के भीतर के भेद हैं। और वे निर्विकल्प समाधी के अभ्यास के बल से विश्रान्ति की न्यूनाधिकता के कारण बनते हैं पञ्च भूमिका में निर्विकल्प समाधी होने पर तब आप ही उस समाधी से व्युत्थान को प्राप्त होता है। सो यह योगी ब्रह्म विद्वर है। छठी भूमिका में पास रहने वालों से जगाया हुवा उठता है। सो यह ब्रह्म विद्वरीयान् है। सो यह दोनों भूमिका सुषुप्ति और गाढ़ सुषुप्ति इस नाम से भी कही जाती हैं सो कहा है।

"सुषुप्ति पद नाम वाली पंचमी भूमि को प्राप्त होकर संपूर्ण भेद के विभाग रूप अंशों के शान्त होने पर अद्वैत मात्र में स्थित होता है।

सदा अन्तर्मुख होकर बाह्य वृत्ति परायण होकर भी सदा परिश्रांत रूप से निद्रालू की न्याईं दिखाई देता है।

इस भूमिका का अभ्यास करके वासना रहित होकर क्रम से गाढ़ सुषुप्ति नामक छठी भूमिका को प्राप्त होता है।

जहां न असत् है न सद्रूप है न अहंकार है न अनहंकार है केवल मनन से रहित होकर द्वैत और एक भाव से रहित होकर स्थित रहता है (अर्थात् नित्य निरन्तर निःसामान्य विशेष सम भाव में निमग्न रहता है)। कोई अद्वैत की इच्छा करते हैं और कोई द्वैत की इच्छा करते हैं द्वैत अद्वैत से रहित सम ब्रह्म को नहीं जानते हैं।

जगत् से अन्तर शून्य है बाह्य शून्य है जैसे आकाश में शून्य घट है ब्रह्म अन्तः पूर्ण है बाह्य पूर्ण है, जैसे समुद्र में घड़ा जल से पूर्ण है तद्वत् यानी घट भेद नाम मात्र को था स्वरूपस्थ पूर्णता और निर्द्वंतता का कोई भेद नहीं है"इति

गाढ निर्विकल्प समाधी को प्राप्त, संस्कार मात्र शेष वाले, चित्त के लिये, मनोराज करने के अथवा बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने के सामर्थ्य का अभाव होने से, आकाश में स्थित कुम्भ की न्याईं, अन्तर्बाह्य शून्यता है। स्वयम् प्रकाश सच्चिदानन्द एक रस ब्रह्म में निमग्न होने से, और बाह्य सर्वत्र ब्रह्म दृष्टी से, समुद्र के मध्य में स्थापित जल पूर्ण कुंभ की न्याईं, अन्तर बाहर पूर्णता है। तूरीय नाम वाली सातवीं भूमिका को प्राप्त योगी का अपने आप अथवा दूसरों से, उत्थान ही नहीं होता है, इसी उद्देश को लेकर, "नाशमान देह समाधिस्थ रहो या उत्थान को प्राप्त रहो" यह भागवत का वाक्य, प्रवृत्त हुआ है। असम्प्रज्ञात समाधी के प्रतिपादक, योग शास्त्र इस उद्देश में ही परिसमाप्त होते हैं। सो यह ऐसा योगी, पूर्व कथन की हुई श्रुति में ब्रह्म विद्वरिष्ट नाम से कहलाता है। सो इस प्रकार पास वालों से बाधित हुआ आचरण करता है यह वाक्य तथा सिद्ध नहीं देखता है इस वाक्य इन दोनों की व्यवस्था दोनों भूमिकाओं के भेद से बन जाती है, इस लिये इनका कोई विरोध नहीं है। इस में यह विचार है:—पांचवी आदिक तीनों भूमिका रूप जीवन्मुक्ति के संपादन करने पर द्वैत की प्रतीति के अभाव से संशय विपर्यय का प्रसंग ही नहीं इसलिये उत्पन्न हुए तत्व ज्ञान की निर्विघ्न रक्षा हो जाती है। सो यह ज्ञान की रक्षा जीवन्मुक्ति का प्रथम प्रयोजन है।

(२) तप, जीवन्मुक्ति का दूसरा प्रयोजन है। देवता भाव आदिक की प्राप्ति का हेतु होने से योग भूमिकाओं की तप रूपता जाननी चाहिये। देव भाव प्राप्ति में वह योग भूमिकाओं की हेतुता अर्जुन व भगवान तथा श्रीराम और वसिष्ट के प्रश्न उत्तर के द्वारा जानी जाती है अर्जुन ने कहा:—

"हे कृष्ण ! जो पुरुष यत्न शील नहीं है, श्रद्धावान है परन्तु जिसका मन योग से हट गया वह पुरुष योग की परम सिद्धि को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है ?

हे महाबाहो ! क्या वह कर्म और ज्ञान दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर ब्रह्म के मार्ग में विभ्रान्त होकर बे ठिकाने फटे हुए बादलों की न्याईं नष्ट हो जाता है।

हे कृष्ण ! यह मेरा संशय है जिसका नाश करना आपके लिये उचित है क्योंकि आप से भिन्न कोई इस संशय का नाश करने वाला हो ही नहीं सकता है।"

श्री भगवान ने कहाः—"हे पार्थ उसका विनाश न इस लोक में होता है न परलोक में होता है। क्योंकि हे तात् ! कोई कल्याणकारी यानी पुण्यात्मा पुरुष दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।

पुण्य कर्म करने वालों के लोकों को प्राप्त होकर और वहां बहुत से वर्षों तक निवास करके योग भृष्ट पुरुष पवित्र श्रीमानों के गृहमें जन्म लेता है।

अथवा ज्ञानी विश्रान्त चित्त वालों के कुल में उत्पन्न होता है लोक में जो इस प्रकार का जन्म है सो अधिक दुर्लभ ही है। वहां उस पूर्व देहवाले बुद्धि के संयोग को प्राप्त होता है जिस से कि हे कुरुनन्दन ! संसिद्धि के लिये और अधिक प्रयत्न करता है" ॥इति॥

श्रीरामजी ने कहाः—"हे भगवन ! एक प्रथम अथवा दूसरी अथवा तीसरी भूमिका के प्रति भी आरूढ़ हुए, मृतक पुरुष की कैसी गति होती है?"

श्री वसिष्ठ जी ने कहाः—"योग की भूमिका से जीवन रहित हुए शरीर धारी के पूर्व के पाप भूमिका के अंश यानी भाग के अनुसार नष्ट हो जाते हैं। तब देवताओं के विमानों में लोकपालों के नगरों में मेरु के पवन वाले कुन्जों में सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करता है। तब पूर्व किये पुण्य कर्मों के फल समूह के और पापों के फल भोग के नाश द्वारा, विनाश होने पर योगियों के कुल में भूमी पर जन्म पाता है।

श्रीमान, शुचिमानों गुप्त गुण वाले सत् पुरुषों के गृह में वहां पूर्व के भावना से अभ्यास किये हुए योग भूमी के क्रम को विवेकी परोक्ष ज्ञानी पुरुष, स्पर्श करके आगे की अधिक ऊंची श्रेणी वाले भूमिका के क्रम को प्राप्त होता है ."

शंका:—इस प्रकार, योग भूमिका देव लोक प्राप्ति की हेतु रही इतने से तप रूपता कैसे हुई ?

समाधान:—यह कहो तो इस में यह श्रुति प्रमाण हम कहते हैं और ऐसा ही तैत्तिरीय श्रुति वाले पढ़ते हैं:—"देवता लोग देव भाव को, तप से प्राप्त हुए, तप से ऋषि लोग स्वर्ग को प्राप्त हुए" ।।इति।। तत्त्वज्ञान से पहले की तीनों भूमिकाओं की तपरूपता सिद्ध होने पर तत्त्व ज्ञान से पीछे की निर्विकल्प समाधी रूप पंचमी आदी तीनों भूमिका की तप रूपता कैमुतिक न्याय से सिद्ध है । इसी लिये कहा है:—

"मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है । वह सर्व धर्मों से श्रेष्ठ है वह परम धर्म कहलाती है" ।।इति।। यद्यपि इस न्याय से तप से प्राप्त होने वाला, जन्मान्तर नहीं है तो भी लोक संग्रह के लिये, यह एकाग्रता तप कहलाती है । इसीलिये श्री भगवान ने कहा है:—

"लोकोपकार को देखते हुए भी तुझे तप करना चाहिये ।" उपकार के पात्र लोक तीन प्रकार के हैं । शिष्य भक्त और समीपस्थ । उन में से अन्तर्मुख योगी गुरु में प्रामाणिकता की बुद्धि की अधिकता से उनके उपदेश किये हुए तत्व में परम विश्वास को प्राप्त होकर शिष्य का चित्त तुरन्त विश्राम को प्राप्त हो जाता है । इसी लिये श्रुति में कहा है:—

"जिस की परमात्मा में परम भक्ति है और जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में है, उसी महात्मा के प्रति यह उपनिषद के कथन किये हुए अर्थ साक्षात्कार होते हैं" ।।इति।।

और स्मृति में भी कहा है:—"श्रद्धावान ज्ञान को प्राप्त होता है, जो तत्पर यानी श्रवणादि परायण हो और निग्रहीत इन्द्रिय भी हो (यानी साधन चतुष्टय संपन्न हो)। ज्ञान को पाकर, शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त होता है ॥इति॥

अन्न देने, निवास स्थान की कल्पना आदिक से, सेवा आदिक से सेवा करता हुआ भक्त उसके तपको आप ही लेलेता है। और ऐसा श्रुति प्रसिद्ध है:—"उसके पुत्र उसकी पुस्तकादिक सामग्री को ले लेते हैं, सुहृद उसके पुण्य फल को लेलेते हैं और द्वेष करने वाले पापों के फल को लेते हैं ॥इति॥

तटस्थ भी दो प्रकार के हैं आस्तिक और नास्तिक उन में से आस्तिक पुरुष योगी की सन्मार्ग में प्रवृत्ति को देख कर आप भी शुभ मार्ग में प्रवृत्त होता है। और ऐसा ही स्मृति में कहा है:—

"श्रेष्ठ पुरुष, जो जो आचरण करता है, अन्य जन्य, वैसा ही करते हैं वह जो प्रमाण कर जाता है, लोक उसके अनुसार वर्तते हैं।" ॥इति॥ यदि योगी, नास्तिक को देख भी लेवे तो वह नास्तिक पाप से छूट जाता है। सो कहा है:—"जिस की बुद्धि, अपरोक्ष साक्षात्कार पर्यन्त, आत्म तत्व में प्रवृत्त होती है, उसके दृष्टिगोचर सर्व जन, सर्व पातकों से छूट जाते हैं।"॥इति॥

इस प्रकार से, योगी सर्व के प्रति उपकारी है, इस कथन की इच्छा से कहते हैं:—"उस ने संपूर्ण तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, सर्व पृथवी भी दान करदी, सहस्र यज्ञ भी रच लिये, और संपूर्ण देवताओं का भी सम्यक् पूजन कर लिया। और संसार से अपने पितरों का भी उद्धार कर लिया, वह त्रिलोकी में भी पूज्य है, जिसका मन, क्षण भर के लिये भी, स्थिरता को प्राप्त होता हो।"

"उसका कुल पवित्र हुआ, उसकी माता कृतार्थ हो गई और उस से पृथवी पुण्यवान होगई। जिस का चित्त इस अपार ज्ञान और सुख के सागर रूप परम ब्रह्म में लीन होगया।" ॥इति॥

योगी का केवल शास्त्रीय व्यवहार ही तप रूप नहीं है किन्तु सर्व लौकिक व्यवहार भी तप रूप है। और ऐसे ही तैत्तिरीय ब्राह्मण वाले अपनी शाखा नारायण उपनिषद के प्रथम अनुवाक द्वारा विद्वान की महिमा का भी पाठ करते हैं और उस अनुवाक के प्रथम भाग में योगी के अवयवों को यज्ञ के अंग रूप द्रव्य कहकर पाठ किया है:—इस प्रकार उस यज्ञ रूप विद्वान का आत्मा यजमान रूप है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर ईंधन है छाती वेदी है, रोम कुशा है, शिखा वेद रूप है, हृदय स्तंभ रूप है, काम घृत रूप है, क्रोध पशु है, तप अग्नि रूप है, दम यज्ञ के पशु का वध करने वाला है, दान दक्षिणा है, वाणी होता है प्राण उद्गाता है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्म है और श्रोत्र अग्नीत है" ॥इति॥ और यहां दान दक्षिणा रूप है, यहां दान शब्द का ऊपर से अध्याहार कर लेना। "और जो तप है, दान है, सरलता है, अहिंसा है, सत्य वचन है वे इस विद्वान् की दक्षिणा रूप हैं" ॥इति॥

यह छान्दोग्य शाखा वाले पाठ करते हैं। उस अनुवाक् के मध्य भाग द्वारा योगी के व्यवहार और जीवनकाल को भी ज्योतिष्टोम के अवयवों की क्रिया रूप से और आगे सर्व यज्ञ के अवयवों की क्रिया रूप से कथन किये हैं:—जो ले जाता है वह दीक्षा है, जो वह खाता है सो हवि है, जो पीता है सो उसका सोमपान है, जो रमण करता है यानी व्यवहार है, वह उपसद् है जो वह आचरण करता है उठता बैठता है वह प्रवर्ग्य है, जो मुख है सो आहवनीय अग्नि है, जो व्याहृति है सो आहुति, जो उसका विज्ञान है वह होम है, जो सायं प्रातः खाता है वह समिध है, जो प्रातः मध्य दिन, सायंकाल और उसके होम हैं, जो अहोरात्र हैं, वे दर्श पूर्ण मास यज्ञ रूप हैं, जो अर्ध मास और मास हैं वे चातुर्मास्य हैं और जो ऋतु हैं वे पशू बांधने के स्थान हैं, जो वर्ष हैं, सूर्य की चाल के वर्ष हैं, वे अहर्गण हैं, अथवा सर्वस्व दान है यह यज्ञ है, जो मरण है सो स्नान है।"

सर्वं वेदसं सर्वस्व दक्षिणा है। यहां एतत् शब्द से प्रसक्त दिन रात से लेकर परिवत्सर पर्यन्त सर्वकाल समष्टि से उपलक्षित योगी की आयु कहना इष्ट है। जो आयु है सत्र सर्वस्व दक्षिणा के सहित यज्ञ है। यह अर्थ हुवा। आगे के अनुवाक के अन्त भाग से सर्वयज्ञात्मक योगी की उपासना करने वाले को सूर्य चन्द्र रूप कारण कार्य ब्रह्म के साथ एकत्व रूपी फल जो क्रम मुक्ति है सो श्रुति कहती है :—

"निश्चय करके यह जरा मरण ही अग्निहोतर रूप सत्र है जो ऐसा उपासक उद्गयन काल यानी उत्तरायण में मरता है वह देवताओं की विभूती को प्राप्त होकर आदित्य के सायुज्य को प्राप्त होता है और जो दक्षिणायन में मरता है पितरों की महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा के सायुज्य यानी समान लोकता को प्राप्त होता है वह उपासक ब्राह्मण इन दोनों ही सूर्य चन्द्रमा की महिमा को पाता है इसलिये ब्रह्मा की महिमा को पाता है, ब्रह्मा की महिमा को पाता है यह उपनिषद है" इति ॥ जरा मरण पर्यन्त जो योगी का चरित्र आचरण है वह वेदोक्त अग्नि होत्रादि संवत्सर सत्र पर्यन्त कर्म स्वरूप है इस प्रकार उपासना करता हुवा भावना की दृढ़ता से सूर्य चन्द्रमा के सायुज्य को यानी उनके स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। भावना की मन्दता से समान लोक को प्राप्त होकर उस लोक में सूर्य चन्द्र की विभूतियों का अनुभव करके उससे पीछे सत्य लोक में चतुर्मुख ब्रह्मा की महिमा को प्राप्त होता है। वहां तत्व ज्ञान को प्राप्त होकर उससे पीछे सत्य ज्ञान आनंदरूप परमब्रह्म की महिमा को यानी कैवल्य भाव को प्राप्त होता है। इत्युपनिषद यह कहने से जो विद्या कही है उसका और उसके प्रतिपादक ग्रंथ का उपसंहार किया है। सो इस प्रकार जीवन्मुक्ति का तप रूप जो दूसरा प्रयोजन है सो सिद्ध हुवा।

(३) विसंवाद का अभाव इसका तीसरा प्रयोजन है। निश्चय करके अन्तर्मुख हुवे (यानी निरन्तर आत्मदर्शी) वाह्य व्यवहार को न देखने वाले योगीश्वर के विषय में कोई लौकिक अथवा नैय्यायकादि मतवाले लोग विवाद

या विरुद्ध कथन नहीं करते हैं। विसंवाद दो प्रकार का होता है एक कलह रूप और दूसरा निन्दा रूप। उन दोनों पक्षों में से क्रोध रहित योगी के साथ लौकिक जन कैसे कलह कर सकते हैं। क्रोध राहित्य को भी स्मृति में कहा है:—

"क्रोध करते हुये के प्रति क्रोध न करे, किसी के क्रोध करने पर आप उसका भला हो यह कहे। अपशब्दों को सहन करे, किसी का अपमान न करे" ॥ इति ॥

शंका :—जीवन्मुक्ति से पहले का कार्य विद्वत्सन्यास है उससे पहला तत्व ज्ञान है उससे भी पहिला विविदिषा सन्यास है। यहां जीवन्मुक्ति के प्रसंग में आरंभ काल के क्रोधादि राहित्य रूप धर्म कैसे कथन कर दिये ?

समाधान :—ठीक है इसीलिये हमारा कहना है कि जीवन्मुक्त के प्रति क्रोधादिक की शंका करनी ही असंभव है। जब अति पूर्व साधन काल के विविदिषा सन्यास में भी क्रोधादिक नहीं होते हैं तब उत्तम पद जो तत्व ज्ञान है उसमें कहां से होंगे। और विद्वत्सन्यास में तो होंगे ही कैसे और जीवन्मुक्ति में तो अत्यन्त ही असंभव हैं। इसलिये संसारी जनों के साथ योगी का कलह संभव नहीं हो सकता है। और निन्दा रूप विसंवाद भी नहीं हो सकता है क्योंकि उस पुरुष का ही निश्चय नहीं होता जिसकी निन्दा कोई करे। और ऐसा ही स्मृति में कहा है :—

"जिसको कोई नहीं जानता है कि वह सन्त है अथवा असन्त है, अपठित है अथवा बहु पठित है सदाचारी है अथवा दुराचारी है वह निश्चय कर के यति है" ॥ इति ॥

सद् असद् उत्तम मध्यम जाती का नाम है। नैयायक आदिक भी क्या शास्त्र में कहे हुए ज्ञेय वस्तु के विषय में विवाद करेगा अथवा योगी के आचरण में ? प्रथम पक्ष में तो योगी दूसरे शास्त्र के ज्ञेय वस्तु की निन्दा ही नहीं करता है क्योंकि "उस एक आत्मा को ही जानो अन्य वाणी को छोड़ो",

इत्यादिक श्रुति की आज्ञा है। और अपने शास्त्र के प्रमेह वस्तु का विपक्षी के सामने समर्थन नहीं करता है।

"धान्य की इच्छा वाला जिस प्रकार पुराल को छोड़ देता है इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थों को छोड़ देवे।"

परम ब्रह्म को अपरोक्ष जानकर जिस प्रकार अधजली लकड़ी को त्याग देते हैं, इस प्रकार उन ग्रंथों को त्याग देवे।" इत्यादिक श्रुतियों के अर्थ परायण योगी होता है। जब वह योगी प्रतिवादी को भी अपना आत्म स्वरूप देखता है, तब जीतने की इच्छा का क्या कथन है? नास्तिकों को छोड़कर सारे ही पंथ वाले, जो मोक्ष को स्वीकार करते हैं, योगी के चरित्र में विवाद नहीं कर सकते हैं। आर्हत यानी जैनी, बौद्ध मत वाले, वैशेषिक, वैयायक, शैव, शाक्त, वैष्णव, सांख्य योगादिक मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों में, प्रतिपादन किया हुआ प्रमेय वस्तु नाना प्रकार का भी है, परन्तु मोक्ष का साधन यम नियमादिक अष्टांग योग एक ही प्रकार का है इसलिये योगीश्वर बिना कलह अथवा निन्दा हुए सब को सम्मान्य है। इसी अभिप्राय से वसिष्ठ जी ने कहा है:—

"जिसके यह अन्त का जन्म है, हे महामते रामजी! उसके प्रति शीघ्र ही निर्मल आत्म विद्या इस प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार उत्तम बांस में मोती।

आर्यता, मनोहरता, मित्र भाव, निष्कपटता, मुक्ति और ज्ञान, उस में सदा इस प्रकार सम्यक् निवास करते हैं, जिस प्रकार गृह के आँगन में स्त्रियां रहती हैं।

सुन्दर मधुर आचार वाले उस पुरुष की सब जन ऐसे इच्छा करते हैं यानी उस उत्तम प्रिय आचार्य वाले विद्वान् को सब जन ऐसे चाहते हैं, जैसे मीठे स्वर वाली बांसुरी को वन में वन के मृग चाहते हैं।

सुषुप्त की न्याईं प्रशान्त वाही (निरुद्ध भूमी वाली संस्कार मात्र शेष) वृत्ति से जिस चित्त ने सदा बोध में स्थित की है। विद्वान् लोग जिस की सदा पूजा सेवा इस प्रकार करते हैं, जैसे कलायुक्त चन्द्रमा की पूजा करते हैं, वह यहां मुक्त कहा गया है ॥ इति ॥

कठोर और मृदु सब पुरुष इस प्रकार उस विद्वान् की ओर शान्त हो जाते हैं, जिस प्रकार माता में और सब प्राणी उस शान्त स्वभाव वाले पुरुष में विश्वास करते हैं।

तपस्वी जनों में, बहुत जानने वालों में, याजकों में (भिक्षा मांगने वालों में) और राजाओं में, बलवानों में, और गुणों करके स्तुति करने योग्य जनों में शमवान पुरुष ही शोभा पाता है ॥ इति ॥

सो इस प्रकार निर्विघ्न विसंवाद का अभाव रूप जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन सिद्ध होगया।

(४) तथा (५) दुःख का नाश और सुख का उदय रूप चौथा और पांचवां प्रयोजन दोनों ब्रह्मानन्द ग्रंथ के विद्यानन्द रूप चतुर्थ अध्याय में निरूपण किये हैं, वह दोनों हम यहां संक्षेप से कहते हैं:—

"आत्मा को यदि तुम ने जाना है कि यह पुरुष मैं ही हूं तो किस मिथ्या भोक्ता की कामना के लिये किन मिथ्या भोगों की इच्छा करते हुए शरीर के पीछे तपायमान होते हो।"

इत्यादिक श्रुति से इस लोक के दुःख का विनाश कथन किया। "इस विद्वान को ही निश्चय करके यह पश्चाताप नहीं तपाता है, कि मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया पाप कर्म क्यों किया" ॥इत्यादिक॥ श्रुतियां, परलोक के हेतु जो पुण्य पाप की चिन्ता रूप दुःख हैं, उनके नाश को कथन करती हैं।

सुखाविर्भाव तीन प्रकार का होता है एक तो सर्व काम की प्राप्ति दूसरी कृतकृत्यता और तीसरी प्राप्त प्राप्तव्यता। प्रथम सर्व काम की प्राप्ति तीन

प्रकार की है, एक तो सर्व का साक्षि होना दूसरी सर्वत्र का महत होने का अभाव और तीसरी सर्व का भोक्ता रूप होना। हिरण्यगर्भ से लेकर वृक्षादि पर्यन्त देहों में व्यापक जो साक्षि चैतन्य रूप ब्रह्म है, वह ही मैं हूं ऐसे जानने वाले को स्वदेह में जैसे सर्व काम का साक्षित्व है वैसे ही पर देहों में भी सर्व भोग की इच्छाओं का साक्षिभाव होता है सो इसी अभिप्राय से यह श्रुति प्रमाण है:—

सर्वज्ञ ब्रह्म स्वरूप से वह विद्वान् सर्व भोग्य जात को एक काल में ही प्राप्त हो जाता है।" इति॥ संसार में जो भोगों को भोगने के पीछे इच्छा जन्य खेद का मिट जाना है उसको काम प्राप्ति के नाम से कहा है। इस लिये सर्व भोगों में दोष दर्शन वाले तत्व वेत्ता को सर्व कामनाओं की पीड़ा से रहित होने से सर्व कामनाओं की प्राप्ति भी सिद्ध है। इसी लिये सम्राट से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त अधिक से अधिक शतगुण आनन्दों में "श्रोत्रिय अकाम हतको" यह सुना है। सद्रूप से, चिद्रूप से, आनन्द रूप से, सर्वत्र स्थित स्वात्मा को स्मरण करते हुए विद्वान के लिये सर्व भोक्तापन भी प्राप्त है, इसी अभिप्राय से इस प्रकार श्रुति में श्रवण किया है:—"मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं। मैं अन्नाद हूं, मैं अन्नाद हूं, मैं अन्नाद हूं" इति॥ कृत्य कृत्यता तो स्मृति में कहा है:—

"ज्ञानामृत से तृप्त कृतकार्य योगी को कुछ कर्तव्य नहीं है और यदि हो तो वह तत्व ज्ञानी नहीं है।

जो मनुष्य तो आत्म रति वाला ही है और आत्मा में ही तृप्ति वाला है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसको कर्तव्य नहीं रहता है।" इति॥ प्राप्त प्राप्तव्यता भी श्रुति में सुनी है:—"हे जनक! निश्चय करके तुम अभय को प्राप्त हुए हो" इति "इस लिये वह सर्वात्म भाव को प्राप्त होगया" इति "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही है" यह भी श्रुति है।

शंका:—यह दुःख का विनाश और सुख का आविर्भाव दोनों तत्व ज्ञान से ही सिद्ध होते हैं इस लिये जीवन्मुक्ति के प्रयोजन नहीं हो सकते हैं।

समाधानः—ऐसा नहीं है, यहां यह कथन इष्ट है कि यह दोनों, इस जीवन्मुक्ति की अवस्था में सुरक्षित रहते हैं। जिस प्रकार तत्वज्ञान, पूर्व से ही उत्पन्न हुआ भी जीवन्मुक्ति से सुरक्षित होता है, इसी प्रकार यह दोनों दुःख नाश और सुखाविभाव भी सुरक्षित होते हैं।

शंकाः—इस प्रकार, जीवन्मुक्ति के पांच प्रयोजन सिद्ध होने पर समाहित योगीश्वर, लोक व्यवहार करते हुए, तत्वज्ञानी से भी श्रेष्ठ है, यह कहना चाहिये। परन्तु सो तो रामवसिष्ठ के प्रश्न उत्तर द्वारा खण्डन कर दिया है:-

श्रीरामजी ने कहाः—"हे भगवन्! हे भूत भविष्यत् के नियामक! कोई ज्ञानी तो, व्यवहार परायण हुआ, हुआ भी, समाधी युक्त की न्याईं विश्रान्त है। कोई एकान्त में स्थित होकर नियम पूर्वक समाधी में स्थित है, इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है, हे भगवन! यह मुझे कहिये।"

वसिष्ठ जी ने कहाः—इस गुण समूह को अनात्म रूप से देखने वाले को, जो अन्तर हृदय में शीतलता है यानी तृष्णा का उपशय है, सो शीतलता समाधी कहलाती है। दृश्य से मेरा सम्बंध नहीं है, यह निश्चय करके शीतल यानी निर्वासनीक होकर कोई मनुष्य सम्यक व्यवहार में स्थित रहता है और कोई ध्यान परायण रहता है हे राम जी! यदि चित्त अत्यन्त शीतल यानी वासना से रहित हों, तो दोनों बराबर हैं। जो हृदय की शीतलता है वह वे अन्त तप का फल है" ॥इति॥

समाधानः—यह दोष नहीं है। इस प्रसंग में वासना क्षय रूप अन्तःकरण की शीतलता अवश्य संपादन करनी चाहिये इतना ही प्रतिपादन किया है। परन्तु उससे पीछे होने वाली मनोनाश की श्रेष्ठता का निषेध नहीं किया है। शीतलता, तृष्णा की शान्ति है। इसी कथन की इष्टता को स्वयम् ही स्पष्ट कर दिया है:-

"हृदय के अन्तर की शीतलता प्राप्त होने पर तो, जगत शीतल है, भीतर तृष्णा से तपने वालों को यह जगत, मानो जलते हुए वन के समान है।"

शंका:—समाधी की निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा भी तो, यहां उपलब्ध होती है:—

"समाधी अवस्था में स्थित, पुरुष के चित्त की वृत्ति, यदि चंचल हो तो उसका समाधान उन्मत्त के नृत्य के समान है। उन्मत्त नृत्य में स्थित पुरुष का चित्त, यदि वासना क्षय वाला हो, तो उसका उन्मत्त नृत्य तो ब्रह्म समाधी के सदृश है।" ॥इति॥

समाधान:—ऐसा मत कहो क्योंकि यहां समाधी की श्रेष्ठता को ही स्वीकार करके, वासना की निन्दा की है। यहां बचन की स्पष्ट यह व्याख्या है:—

यद्यपि व्यवहार से समाधी श्रेष्ठ है तो भी वह यदि सवासनीक हो तब निर्वासनीक व्यवहार से अधम है वह समाधी नहीं है। जब समाहित और व्यवहार करता दोनों ही अतत्वज्ञ यानी स्वरूप से अज्ञानी हों तब तो उत्तम लोक की हेतु होने से और पुण्य रूप होने से समाधी की श्रेष्ठता है। यदि दोनों ही ज्ञाननिष्ठ और निर्वासनीक हों तब भी वासना क्षय रूप जीवन्मुक्ति की रक्षा करती हुई यह मनोनाश रूप समाधी श्रेष्ठ ही है। इसलिये योगीश्वर को श्रेष्ठ होने से पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्ति के प्रति कोई भी विघ्न नहीं है यह सिद्ध हो गया।

इति जीवन्मुक्ति स्वरूप सिद्धि प्रयोजन निरूपण नाम
चतुर्थ प्रकरण ॥४॥

॥ हरि ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

अथ पंचम विद्वत्सन्यास प्रकरण

जीवन्मुक्ति के स्वरूप उसमें प्रमाण उसके साधन और उसके प्रयोजनों सहित जीवन्मुक्ति का निरूपण किया। अब उसके उपकारी यानी सहायक विद्वत्सन्यास का निरूपण करते हैं। विद्वत्सन्यास को भी परम हंस उपनिषद् में प्रतिपादन किया है, उस उपनिषद का हम अनुवाद करके व्याख्यान करते हैं:—

उन उपनिषद में विद्वत्सन्यास के योग्य प्रश्न का प्रथम अवतरण करते हैं:—

(अर्थ) "और योगी परम हंसों का यह प्रसिद्ध कौनसा मार्ग है, उनकी क्या स्थिति है, यह प्रश्न नारद ने भगवान् ब्रह्मा जी के पास जाकर उन से किया" ॥ इति ॥

मूल में यद्यपि पीछे से जिसका कथन करें उसकी अपेक्षा से प्रथम कोई शब्द "अथ" शब्द से अपेक्षित यहां नहीं भान होता है, तो भी पूछने के लिये विषय यहां पर विद्वत्सन्यास है उस विद्वत्सन्यास में तत्व का जाननेवाला लोक व्यवहार से विक्षेप युक्त मनकी विश्रान्तिकी कामना वाला मनुष्य अधिकारी है। इसलिये वैसे अधिकारकी प्राप्ति के पीछे" यह मूल में अथ शब्द का अर्थ है। केवल योगी और केवल परमहंस इन दोनों के निषेध करने के लिये योगी और परमहंस दोनों पदों का एक साथ कथन किया है। केवल योगी तत्व ज्ञान न होने के कारण त्रिकाल ज्ञान आकाश गमनादिक और योग की विभूति के चमत्कारों वाले व्यवहारों में आसक्त होकर संयम यानी धारणा ध्यान समाधी रूप साधनों का उन सिद्धियों में उपयोग करता है, उस से परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। इस अर्थ में पहले सूत्र को कह चुके हैं:—"वे समाधी में विघ्न रूप हैं, और उत्थान काल में सिद्धियां होती

हैं" ।।इति।। केवल परमहंस तो तत्व विवेक द्वारा ऐश्वर्यों में असारता को जान कर विरक्त हो जाता है । सो भी कहा है:—

"इस जगत में ऐसी यह चिदात्मा की शक्तियां भास रही हैं इस प्रकार इस परमहंस को आश्चर्य जाल में कौतुक नहीं प्रतीत होता है" ।।इति।। वह केवल परमहंस विरक्त होकर भी ब्रह्म विद्या के अभिमान से विधि निषेध को उलंघन कर देता है, सो कहा है:—त्रिगुणातीत मार्ग में विचरने वालों को विधि क्या है ? निषेध कहां है ? ।।इति।। और इसीलिये श्रद्धालू शिष्टजन उस केवल परमहंस की इस प्रकार निन्दा करते हैं:—"कलियुग के प्राप्त होने पर तो सब ब्रह्म का कथन करेंगे परन्तु हे मैत्रेय ! गुह्य इन्द्रिय के और उदर के परायण हो कर अनुष्ठान न करेंगे, यानी ब्रह्म साक्षात्कार के उपाय जो ईश्वर के विषय, कायक वाचिक मानसिक प्रणिधान को न करेंगे, अथवा ब्रह्म-निष्ठा का संपादन न करेंगे" ।।इति।। परन्तु योगी परमहंस में तो यथोक्त दोनों दोष नहीं हैं, और भी उसकी विशेषता प्रश्नोत्तर द्वारा दिखलाई है ।

श्री रामः—हे वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ ! हे भगवन् ! ऐसा निर्णय होने पर भी सद्बुद्धि वाले जीवन्मुक्त पुरुष की वह अधिक विशेषता क्या होती है ?

वसिष्ठजी ने कहाः—हे अंग ! ज्ञानी पुरुष की बुद्धि किसी विशेषता वाली ही होती है । वह पुरुष नित्य तृप्त प्रशान्त चित्त होकर आत्मा ही में स्थित रहता है ।

मंत्र द्वारा सिद्धियों से, तप की सिद्धियों से और तंत्र की सिद्धियों से बहुत बार आकाश यानादिक बनाते हैं, इसमें क्या नवीनता है ? इस ज्ञानी का एक यही विशेष गुण है कि वह मूढ़ बुद्धि वालों के समान नहीं होता है, सर्वत्र सत्यत्व भावना के परित्याग से उसका मन राग रहित और निर्मल होता है ।

संशान्त होगया दीर्घकाल का भ्रम जिसका, उस आनन्दवान चिन्ह रहित तत्त्व ज्ञानी पुरुष का निश्चय करके इतना मात्र ही चिन्ह है कि जो

काम, क्रोध, शोक, मोह, लोभ, तृष्णा आदिक दुःखों का दिन दिन अत्यन्त क्षीण होना है ।। इति ।।

इस कथन से श्रेष्ठता वाले दोनों दोषों से रहित जनों की (यानी सिद्धि में आसक्ति से रहित और यथेष्टाचरण रहित पुरुषों की) स्थित पूछी है। वेष भाषादि रूप बाह्य व्यवहार ही मार्ग कहलाता है। चित्त का निरोध रूप भीतर का धर्म स्थिति है। भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा के कहे हुए यथोक्त प्रश्न के उत्तर का अवतरण करते हैं:—"उसको भगवान ने कहा" ।।इति।।

जिस मार्ग का कथन करेंगे उसमें अधिक श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिये उस मार्ग की भगवान् ब्रह्माजी प्रशंसा करते हैं:—

"सो यह परमहंसों का मार्ग संसार में दुर्लभतर है बहुत नहीं है" इति।। जो मार्ग पूछा सो यह ऐसा तात्पर्य्य है। "अयं" शब्द से जो आगे ग्रन्थ से कथन करेंगे कि वस्त्रादिक स्व शरीर के निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिए ग्रहण करे, सो किसी भी अपेक्षा से रहित उस मुख्य मार्ग का विचार किया है वैसा परम अवधि को प्राप्त वैराग देखने में न आने से उस मार्ग की दुर्लभता है। और इतने से मार्ग के अत्यन्त अभाव की शंका नहीं करनी, इस अभिप्राय से बाहुल्यता का ही निषेध है क्योंकि "न तु" इत्यादिक कथन है और बाहुल्यं इस कथन में व्याकरण की रीति से लिंग का विपर्यय छान्दस है, यानी 'बाहुल्येन' यह कथन होना चाहिये, बाहुल्यं नहीं होना चाहिये।

शंका:—यह मार्ग यदि दुर्लभतर है, तो उसके लिए परिश्रम नहीं करना चाहिये। उससे कोई प्रयोजन नहीं है। इस आशंका का यह समाधान कहा है:—"जो एक भी हो जावे वह नित्य पवित्र परमात्मा में स्थित होता है, वह ही वेद प्रतिपादित पुरुष हैं ऐसे विद्वान मानते हैं" ।।इति।।

"सहस्रों मनुष्यों में से कोई पुरुष चित्त की शुद्धि के लिये यत्न करता है और यत्न करते हुए सफलता को प्राप्त पुरुषों में से कोई पुरुष मुझको स्वरूप से जानता है।

इस न्याय से जहां कहीं भी जब कभी भी कोई योगी परमहंस प्राप्त होवे तो वह ही नित्य पूतस्थ होता है। नित्य पूतः परमात्मा है। "जो आत्मा पापों से अपहत यानी हनन किया हुवा नहीं है" यह श्रुति प्रमाण है 'एव' से केवल योगी और केवल परमहंस का निषेद किया है। केवल योगी नित्य पवित्र को नहीं जानता है केवल परमहंस जानता हुआ भी चित्त की विश्रांति के न होने से बहिर्मुख होकर ब्रह्म में स्थित नहीं होता है। वेद प्रतिपादित पुरुष वेद पुरुष है। विदुषः=विद्वान् ब्रह्म साक्षात्कार और विश्रांति के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों के पारगामी योगी परमहंस की ब्रह्म निष्ठता को सब जन मानते हैं। यथोक्त विद्वान् तो यह भी सहन न करते हुए उसकी ब्रह्म रूपता ही मानते हैं सो ही कहा है:—

"दर्शन अदर्शन को त्यागकर स्वयं केवल रूप से जो विद्वान् स्थित है हे ब्रह्मन ! वह तो आप ब्रह्म स्वरूप ही है ब्रह्मवित् नहीं है" ॥इति॥ इसलिये इस मार्ग के प्रयास के प्रयोजनाभाव की शंका करना भी संभव नहीं है। नित्य पूतस्थता और वेद पुरुषता मुख्य रूप से कहकर अर्थ से "स्थित" वाले प्रश्न का उत्तर सूत्र रूप से कहते हैं :—

महा पुरुष का जो चित्त है वह सर्वदा मुक्त में ही स्थित रहता है इसलिये मैं भी उसमें ही स्थित रहता हूं ॥ इति ॥

वैदिक ज्ञान और कर्म के अधिकारी पुरुषों के मध्य में योगी परमहंस अत्यन्त उत्तम है इसलिये महा पुरुष रूप है। वह जो महापुरुष है अपना चित्त मुझ में ही स्थापन करता है। क्योंकि संसार को विषय करने वाली वे चित्त की वृत्तियां अभ्यास वैराग द्वारा निरुद्ध होती हैं। इसलिये भगवान प्रजापति ने शास्त्र प्रसिद्ध परमात्मा को स्व अनुभव से स्मरण करते हुए "मुझ में" यह उपदेश किया है। जिस वास्ते योगी मुझ में ही चित्त को स्थापन करता है इसलिये मैं भी परमात्म स्वरूप से उसही योगी के प्रति साक्षात्कार होकर स्थित होता हूं अन्य अज्ञानियों में नहीं। क्योंकि वे अज्ञानी अविद्या से आ-

वृत हैं। उनको बाह्य विषयगोचर चित्त की वृत्तियों द्वारा आच्छादित होने से स्वरूप का अविंभाव अपरोक्ष नहीं रहता है। "यह मार्ग कौनसा है?" इस पूछे हुए मार्ग का भगवान ब्रह्मा जी उपदेश करते हैं:—

"वह योगी स्वपुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदिक का तथा शिखायज्ञोपवीत स्वाध्याय का भी और सर्व कर्मों का सन्यास करके और ब्रह्माण्ड को भी त्यागकर कौपीन, दण्ड और वस्त्र स्वशरीर के निर्वाहार्थ और लोकोपकारार्थ ग्रहण करे।" इति॥

जो गृहस्थ पूर्व जन्मों के संचित पुण्य समूह के पकने पर यानी फल देने को सन्मुख होने पर माता पिता जाती आदिक निमित्त से विविदिषा सन्यास रूप परमहंस आश्रम के स्वीकार बिना सन्यास पूर्वक श्रवणादिक साधनों का अनुष्ठान न करके तत्व को सम्यक् जानता है। पीछे गार्हस्थ्य में प्राप्त सहस्त्रों लौकिक वैदिक व्यवहारों से चित्त के विक्षिप्त होने पर विश्रांति की प्राप्ति के लिये विद्वत्सन्यास की इच्छा करता है उसके प्रति स्वपुत्र, मित्र इत्यादिक उपदेश है। क्योंकि पूर्व से ही विविदिषा सन्यास करके तत्व के ज्ञाता विद्वत् सन्यास की इच्छा करने वाले के प्रति स्त्री पुत्रादिक होने का प्रसंग ही नहीं है।

शंका:—क्या यह विद्वत्सन्यास, अन्य सन्यास की न्याईं प्रैषोच्चारणादिक विधी के अनुसार संपादान करने योग्य है अथवा जीर्ण वस्त्र उपद्रव युक्त ग्राम आदिक को त्याग देने की न्याईं, लौकिक त्याग मात्र हैं? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि तत्व ज्ञानी को, कर्तृत्व रहित होने से विधि निषेध का अधिकार नहीं है इसी लिये स्मृति में कहा है:—

"ज्ञान रूपी अमृत से तृप्त कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य नहीं है और यदि हो तो वह तत्व ज्ञानी नहीं है।" इति॥ दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि कौपीन, दण्डादिक आश्रम की विधी सुनने में आता है।

समाधानः—यह दोष नहीं है प्रति पत्ति रूप यज्ञ कर्म की न्याईं दोनों पक्ष बन जाते हैं, ऐसा ही कहा है:—ज्योतिष्टोम कर्म में दीक्षा ग्रहण किये हुए को दीक्षा के अंगों के नियम के अनुष्ठान काल में हस्त से खुजलाने का निषेध करके काले मृग के सींग से खुजाना लिखा है। "जो हाथ से खुजावे तो सन्तान खुजली की बीमारी वाली हो,और जो हंसे तो लज्जा हीन सन्तान हो।" ॥इति॥ "काले मृग के सींग से खुजावे" इति च॥ नियम के समाप्त होने पर कृष्ण मृग के शृंग का कोई प्रयोजन नहीं रहा क्योंकि उसको उठाकर रखना असंभव है, इस लिये उसका त्याग देना स्वतः ही प्राप्त है : और उस त्याग को त्याग के प्रकार के सहित वेद विधान करता है:—

"दक्षिणा दिये जाने पर कृष्ण विषाण को गढे में दाब देवे" इति॥ सो यह प्रति पत्ति कर्म, लौकिक वैदिक दोनों रूप से है। इसी प्रकार विद्वत् सन्यास भी उभय रूप से है। तत्वज्ञानी के कर्तव्य का अत्यन्त अभाव है, यह भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि चिदात्मा में आरोपित, कर्तव्य रूपता की ज्ञान से निवृत्ति भी होगई, परन्तु चिदाभास युक्त अन्तःकरण रूप उपाधी में तो सहस्रों विकार हैं। जब तक अन्तःकरण द्रव्य है, तब तक स्वतः सिद्ध कर्तव्य की, निवृत्ति नहीं होसकती है. और "ज्ञानामृतेन" इत्यादिक स्मृति का विरोध भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर भी विश्रान्ति रहित पुरुष के, तृप्ति का अभाव होने से, विश्रान्ति की प्राप्ति के लिये कर्तव्य शेष बना रहता है इस लिये कृतकृत्यता का अभाव है।

शंकाः—यदि हम तत्व ज्ञानी के लिये कर्तव्य विधी, स्वीकार करलें तो उससे नवीन कर्म बन कर, दूसरे देह का भी आरंभ होजावेगा।

समाधानः—यह बात नहीं है, वह अपूर्व (यानी नवीन कर्म का संस्कार) चित्त की विश्रान्ति के विघ्न की निवृत्ति रूप दृष्टफल को दे सकता है, इस लिये अदृष्ट फलकी कल्पना अन्याय रूप है। ऐसा न मानें तो श्रवणादिक की विधियों में भी, ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में जो विघ्न हैं, उन

की निवृत्ति रूप दृष्ट फल को छोड़ कर, श्रवणादिक को जन्मान्तर के हेतु होने की कल्पना करनी पड़ेगी। इस लिये विधी के अंगीकार में दोष का अभाव होने से, विविदिषु की न्याईं विद्वान गृहस्थ भी, नान्दी मुख श्राद्ध, उपवास, जागरणादिक विधी के अनुसार ही, सन्यास करे। यद्यपि यहां श्राद्धादिक का उपदेश नहीं किया, तो भी क्योंकि यह विद्वत्सन्यास, विविदिषा संन्यास का विकार यानी पीछे का कार्य है, इस लिये, "कारण की न्याईं कार्य की भी कर्तव्यता है" इस न्याय से उस विविदिषा सन्यास के ही सब धर्म, इस विद्वत्सन्यास में भी प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार, अग्निष्टोम के विकार अतिरात्र आदिक में भी उस के ही धर्म प्राप्त होजाते हैं तद्वत्। इसलिये, दूसरे सन्यास की न्याईं, इस विद्वत्सन्यास में भी प्रैष मन्त्रादि के द्वारा, त्याग का संकल्प करे। "बन्ध्वादिक को" इत्यादि कथन से नौकर, पशु, गृह क्षेत्रादिक, लौकिक परिग्रहादिक सामग्री के त्याग का संग्रह है।

"स्वाध्याय को भी" यहां चकार अर्थात् भी शब्द से, स्वाध्याय के अर्थों के निर्णय में उपयोगी, पद, वाक्य प्रमाण शास्त्र और वेदार्थ के विस्तृत अर्थ खोलने का तथा इतिहास, पुराणों का संग्रह किया है। देखने की इच्छा की निवृत्ति मात्र प्रयोजन वाले, काव्यनाटक आदिकों का त्याग कैमुतिक न्याय से सिद्ध है। "सर्व कर्मों को" यहां सर्व शब्द से लौकिक वैदिक नित्य नैमित्तिक निषिद्ध और काम्य कर्मों का संग्रह है। पुत्रादिक त्याग से इस लोक के भोगों का परिहार किया है। सर्व कर्म त्याग से चित्त को विक्षेप देने वाली परलोक के भोग की आशा का परिहार किया है। "अयं" यह वैदिक छन्द वाली विभक्ति है उसके बदले में "इदं ब्रह्माण्डं" यह होना चाहिये। ब्रह्माण्ड त्याग नाम उसकी प्राप्ति के कारण विराट उपासना का त्याग है। "ब्रह्माण्डं च" यहां चकार अर्थात् भी शब्द से, सूत्रात्मा की प्राप्ति के कारण रूप हिरण्यगर्भ की उपासना का और तत्व ज्ञान के हेतु जो श्रवणादिक हैं, उन के त्याग का संग्रह है। स्वपुत्रादिक से

लेकर हिरण्यगर्भोपासना पर्यन्त इस लोक और परलोक के सब सुख के साधनों का पूैष के उच्चारण मात्र से परित्याग करके कौपीनादिक का ग्रहण करे। "आच्छादनं च" इस पूकार से पादुका आदिक का संग्रह है। ऐसी ही स्मृति है:—"दो कौपीन वस्त्र शीतनिवारिणी कन्था और पादुका भी ग्रहण करे अन्य का संग्रह न करे ॥" इति ॥

स्वशरीर का निर्वाहरूप उपभोग नाम कौपीन से लज्जा निवृत्ति का है दण्ड से गो सर्पादिक उपद्रव का परिहार है, वस्त्र से शीतादिक का परिहार है, चकार से पादुका द्वारा उच्छिष्ट देश के स्पर्शादिक के परिहारों का संग्रह सूचित किया है। लोकोपकार से पूसिद्ध दण्डादि लिंग द्वारा उसका उत्तम आश्रम जतला कर उसके पूति उचित पूणाम भिक्षा पूदानादिक करने की प्रवृत्ति से (गृहस्थों को) पुण्य की प्राप्ति दिखाई है। चकार द्वारा आश्रम मर्यादा जो शिष्टाचार से प्राप्त है उसका पालन सूचित किया है।

कौपीनादिक परिग्रह अनुकूल मात्र है इस अभिपूाय से उसकी मुख्यता का ब्रह्मा जी निषेध करते हैं :—"तश्च न मुख्योस्ति अर्थात् वह भी मुख्य नहीं है" इति ॥

जो कौपीनादिक का स्वीकार है, वह भी इस योगी परमहंस के लिये, मुख्य विधी नहीं है। विविदिषा वाले सन्यासी का तो दण्ड ग्रहण मुख्य है, यह मानकर दण्ड के वियोग का निषेध स्मरण किया है:—"अपने दण्ड के पास रखने की सर्वदा ही विधी है। विद्वान् तीन धनुष पर्यन्त भी बिना दण्ड के न जावे" ॥इति॥

दण्ड के नष्ट होने पर प्रायश्चित भी शत प्राणायाम करना स्मृति में कहा है:—"दण्ड छूटने पर शत प्राणायाम करे" ॥ इति ॥

योगी परमहंस के लिये मुख्य कल्पना विधी को प्रश्नोत्तर द्वारा ब्रह्मा जी दिखाते हैं:—"पूसिद्ध मुख्य क्या है, यह पूछिये तो यह मुख्य है न

दण्ड हो, न शिखा हो, न यज्ञोपवीत हो, न वस्त्र हो इस प्रकार परम हंस का आचरण है" इति ॥

"न शिखम्" छान्दस लिंग का विपर्यय समझना। जिस प्रकार, विविदिषु परमहंस, शिखा यज्ञोपवीत से रहित होकर, मुख्य है, इसी प्रकार, योगी दण्ड वस्त्र से रहित होकर, मुख्य होता है। दण्ड के लिये बांस, वस्त्रके लिये कन्थादिक के निर्णय करने को और दण्डादिक के संपादन तथा रक्षा करने को, चित्त व्यवहार युक्त होता है, जिससे चित्त की वृत्ति का निरोध रूप योग सिद्ध नहीं होता है, सो तो ठीक नहीं है क्यों कि "वर के विघात के लिये कन्या का विवाह नहीं होता है" यह न्याय है। वस्त्रादिक के अभाव में शीतादिक बाधा निवृत्ति का क्या उपाय है इस आशंका से ब्रह्माजी ने कहा है:—

"न शीत है और न उष्ण है, न दुःख है, न सुख है, न मान अपमान है और षट उर्मी से रहित है" ॥इति॥

संपूर्ण चित्त की वृत्तियों के निरोध वाले योगी को, शीत नहीं लगता है, क्यों कि उसकी प्रतीति ही, नहीं होती है। जिस प्रकार क्रीडा में आसक्त वालक, वस्त्रादिक से रहित हो, तो भी, हेमन्त शिशिर के प्रातः काल का शीत उसके लिये नहीं है, इसी प्रकार परमात्मा में आसक्त योगी को शीत का अभाव है। ऐसे ही गर्मी में गर्मी का अभाव भी जान लेना चाहिये। वर्षा के अभाव के सूचित करने को चकार है। शीत उष्ण की अप्रतीति में उससे उत्पन्न हुए सुख दुःखों का अभाव भी बन जाता है। गर्मी में ठंड, सुख जनक होती है, हेमन्त में दुःख प्रद होती है। इसका उल्टा गर्मी में जान लेना। मान दूसरे पुरुष से पाया हुआ सत्कार होता है। अपमान तिरस्कार है जब योगी को अपने से भिन्न पुरुष की ही प्रतीति नहीं होती है, तब मान अपमान दूर से गये। चकार, शत्रु मित्र राग द्वेषादिक द्वन्द के अभाव को सूचित करता है। षट, ऊर्मी, भूख प्यास, शोक मोह और जरा मरण हैं। उन तीनों

द्वन्दों को क्रम से प्राण मन और देह के धर्म होने से आत्मतत्व के सन्मुख योगी के लिये उसका त्याग विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार, समाधी अवस्था में, शीतादिक का अभाव रहो, व्युत्थान दशा में तो निन्दादिक क्लेश संसारियों की न्याई, इस योगी को दुःख देते ही हैं इस आशंका से कहते हैं:—

"निन्दा, गर्व, मत्सर, दंभ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष असूया और अहंकारादिक को त्याग कर" इति। विरोधी पुरुषों से अपने में किया गया जो दोष कथन है, सो निन्दा है। मैं अन्य से अधिक हूं, यह चित्त की वृत्ति गर्व है। विद्या धनादिक द्वारा मैं अन्य के समान हो जाऊं, इस बुद्धि का नाम मत्सर है। दूसरों के सन्मुख जप ध्यानादिक प्रकट करना दम्भ है। पर तिरस्कारादिक में दृढ़ हठ दर्प है, धनादिक की अभिलाषा इच्छा है। शत्रु के बधादिक की बुद्धि द्वेष है, अनुकूल द्रव्यादि के लाभ से बुद्धि का स्वास्थ्य सुख है। उससे उल्टा दुःख है स्त्री आदिक की अभिलाषा काम है, वांछित अर्थ के विरोध से उत्पन्न जो बुद्धि का क्षोभ है सो क्रोध है। प्राप्त धन के त्याग का सहन न होना लोभ है। हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि होना मोह है। चित्त गत सुख के प्रकाश करने वाली मुख के खिलने की कारण जो बुद्धि की वृत्ति है सो हर्ष है। पराये गुणों में दोष रूपता का आरोप करना असूया है। देहादि समुदाय में आत्म भ्रम अहंकार है। आदि शब्द से भोग्य वस्तुओं में ममता अनुकूलता आदिक बुद्धि ग्रहण की है। चकार यथोक्त निन्दादिक से विपरीत स्तुति आदिक को सूचित करता है। इन सब निन्दादिक को त्याग कर अर्थात् पूर्वोक्त वासना क्षय के अभ्यास से सब का परित्याग करके स्वरूप में स्थित रहे यह अधिक मिला लेना। परन्तु स्वदेह के विद्यमान रहते उसका परित्याग संभव नहीं है इस आशंका से ब्रह्माजी ने कहा है:—"अपना शरीर मृतकवत् दिखाई पड़ता है क्योंकि उसके शरीर का निषेध हो जाता है" ॥इति॥

ज्ञान से प्रथम काल का जो अपना शरीर है, वह अब योगी द्वारा स्वात्म चैतन्य से न्यारा होकर मृतक शरीरवत् दृष्टि गोचर होता है। जिस प्रकार श्रद्धालु स्पर्श के भय से मृतक देह को दूर से स्थित होकर देखता है इसी प्रकार यह योगी, एकत्व भ्रांति के उदय होने के भय से सावधान होकर देह को चिदात्मा से निन्तर न्यारा करता है। क्योंकि उसका शरीर आचार्य के उपदेश और शास्त्र के अनुभव से विनष्ट हो चुका, चिदात्मा के सकाश से उसका निषेध किया जा चुका। इस लिए चैतन्य से भिंन्न हुये देह, मृतक शरीर के समान दृश्यमान होने से उस देह के होते हुए भी निंदादिक का त्याग बन जाता है, यह अभिप्राय है।

जैसे उत्पन्न हुआ जो दिशा का भ्रम है, वह सूर्य उदय के दर्शन से नष्ट हुआ भी कदाचित् फिर हो जाता है,इसी प्रकार चिदात्मा में देह ही आत्मा होगा इस संशयादिक के पुनः हो जाने पर निन्दादिक क्लेश पुनः पुनः होने लगेंगे इस अशंका के होने पर कहा है:—

"संशय विपर्यय और मिथ्या ज्ञान इनकी हेतु जो अज्ञान और अविद्या है, उस से नित्य निवृत्त हो जाता है" इति॥

आत्मा कर्तृत्वादि धर्म से, युक्त है अथवा रहित है, इत्यादिक संशय ज्ञान है देहादि रूप ही आत्मा है, यह विपरीत ज्ञान है, यह दोनों भोक्ता के विषय में होते हैं। मिथ्या ज्ञान तो इस भोग्य विषय में कथन करना इष्ट है। और वह अनेक प्रकार का है "संकल्प से उत्पन्न हुए भोग्य विषयों को" इस गीता वाक्य में स्पष्ट कथन किया है। उन का जो हेतु है वह चार प्रकार का है:—

"अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में, पृथक २ जो नित्य, शुचि, दुःख और आत्मा की ख्याति अर्थात् भ्रान्ति है सो अविद्या है" यह सूत्र प्रमाण है।

(१) अनित्यगिरि, नदी, समुद्र, आदिक में नित्यत्व का भ्रम, एक प्रकार की अविद्या है। (२) अशुचि पुत्र, भार्या आदि के शरीर में शुचित्व

भ्रान्ति, दूसरे प्रकार की अविद्या है। (३) दुःख रूप कृषि वाणिज्यादिक में सुख की भ्रान्ति, तीसरी प्रकार की अविद्या है। (४) गौण रूप मिथ्यात्मा जो पुत्र भार्यादिक के अन्नयादिक देह अनात्मा हैं।

उन में मुख्य आत्मरूपता की भ्रान्ति, चौथी प्रकार की अविद्या है। इन संशयादिकों के कारण अद्वितीय ब्रह्म रूप आत्म तत्व को आवरण करने वाले अज्ञान और उस की वासना हैं (यह अज्ञान जन्य विपरीत वासना ही अविधा है) वह योगी परमहंस का अज्ञान तो, महावाक्य के अर्थ के बोध से निवृत्ति हो गया। परन्तु वासना योगाभ्यास से निवृत्त हुई। दिशा भ्रम के उदाहरण को लेकर (जैसे दिशा भ्रम के मिट जाने पर भी पुनः भ्रम हो जाता है तद्वत्) अज्ञान के निवृत्त होने पर भी वासना के वर्तमान रहने से, पूर्व की न्याई भ्रान्ति का व्यवहार रहता है। परन्तु योगी को भ्रान्ति के दोनों कारण यानी अज्ञान और उसकी वासना, इन दोनों से रहित होने से, फिर संशयादिक, किस प्रकार होंगे यानी न होंगे। उस ही अनुवृत्ति के अभिप्राय को लेकर यह कहा है कि उन दोनों कारणों से यानी अज्ञान और उस की वासना से योगी सदा निवृत्त हो जाता है। अज्ञान और अज्ञान की वासना दोनों की निवृत्ति की उत्पत्ति होने पर भी, उस निवृत्तिं का नाश न होने से नित्यता ही जाननी (यानी वह नित्य निवृत्ति ही है, यह जानना)।

उस संशयादिकों के कारण अज्ञान की निवृत्ति के नित्य होने में, हेतु कहते हैं:—"उस परमात्मा के नित्य बोध वाला है" ।।इति।।

(व्याकरण में) सर्वनाम होने से प्रसिद्ध अर्थ को कथन करने वाला तत् शब्द यहां सर्व वेदान्त प्रसिद्ध परमात्मा को कहता है। उस परमात्मा में जिस योगी को नित्य बोध हो, सो यह योगी उस परमात्मा के नित्य बोध वाला है (यानी परमात्मा का ज्ञान सदा उस योगी के बना रहता है)। क्योंकि योगी, "ब्राह्मण उस परमात्मा को स्व स्वरूप अपरोक्ष साक्षात्कार करके, उस ब्रह्माकार वृत्ति को दृढ़ करे" ।।इति।। इस श्रुति की आज्ञा के अनु-

सार होकर, योग से चित्त के विक्षेपों का परिहार करके निरन्तर परमात्मा के विषय ही प्रज्ञा को करता है, (यानी ब्रह्माकार वृत्ति का धारा वाही प्रवाह दृढ़ और स्वाभाविक बनाता है) इस लिये बोध को नित्य होने से बोध से विनाश्य, जो अज्ञान और उस की वासना की निवृत्ति, सो नित्य है।

ज्ञेय परमात्मा, तार्किक यानी नैय्यायक वैशेषिक आदिकों की न्याईं तटस्थ रूप ज्ञात होगा, इस शंका का निवारण करते हैं:—

"उस परमात्मा में आप ही (अपना स्वरूप जानकर योगी की) अवस्थिति होती है (यानी सो आप ही है ऐसा निश्चय दृढ़ होता है।"इति।। जो वेदान्त से वेद्य, परं ब्रह्म है सो आप ही है, अपने से भिन्न नहीं है इस प्रकार निश्चय करके योगी की ब्रह्म स्वरूप में निष्ठा होती है।

उस योगी के ब्रह्म के अनुभव के प्रकार को दिखाते हैं:—"वह शान्त अचल अद्वय आनन्द विज्ञानघन मैं ही हूं, वह ही मेरा परम धाम यानी वास्तव स्वरूप है।" इति।। "तं" इत्यादिक तीनों पदों में जो द्वितीया विभक्ति है सो प्रथमा विभक्ति के अर्थ में जानने योग्य है। जो परमात्मा शान्त क्रोधादिक विक्षेप से रहित है, अचल यानी गमनादि क्रिया से रहित है, स्वगत, सजातीय, विजातीय, द्वैत से शून्य सच्चिदानंद एक रस है, वह मैं ही हूँ। वह ही ब्रह्मतत्व मुमुक्षु योगी का परम धाम यानी वास्तव स्वरूप है। परन्तु यह स्वरूप कर्ता भोक्तापने वाला नहीं है, क्योंकि वह कर्ता भोक्तापन तो माया कल्पित होता है।

शंका:—आत्मा की परब्रह्म रूपता, आनन्द की प्राप्ति अब अज्ञान काल में क्यों नहीं भान होती है, इस विषय में आनन्द की प्राप्ति को दृष्टान्त सहित, योग्य महापुरुष ने कथन किया है:—

समाधान:—"गौ का घृत गौ के शरीर में रहते हुए भी उसकी अंग पुष्टी नहीं करता है, वह ही घृत मथनादिक कर्म से निकाला हुआ पुनः उस ही गौ की औषधि है।

इस प्रकार घृतवत् सर्व शरीर में परमेश्वर स्थित है परन्तु वह परमेश्वर देव बिना उपासना के पुरुषों का हित नहीं करता है ॥इति॥

यदि योगी के पूर्व आश्रम के प्रसिद्ध आचार्य, पितर, भ्राता आदिक, कर्मिष्ठ श्रद्धा जड़ पुरुष शिखा यज्ञोपवीत सन्ध्या वन्दनादिक के अभाव से इस योगी में पाखण्डता का आरोप करके उसको भ्रम में डालें, तब भ्रान्ति को हटाने के लिये श्रुति योगी के वर्तमान निश्चय को दिखाती हैं:—"वही शिखा है, वही यज्ञोपवीत है, और परमात्मा के एकत्व ज्ञान से जीव ब्रह्म दोनों के भेद का भंग होना ही वह सन्ध्या है" ॥ इति ॥

जो वेदान्त से जानने योग्य परब्रह्म का ज्ञान है, वही कर्म के अंग रूप बाह्य शिखा यज्ञोपवीत के स्थान में (यानी उनके बदले में) है। अन्य भी कर्म के अंग भूत, मन्त्र द्रव्य, चकार से ग्रहण किये हैं शिखा इत्यादिक अंग से साध्य कर्मों से उत्पन्न हुआ जो स्वर्गादिक सुख है, वह सब ब्रह्म ज्ञान से ही प्राप्त होता है। क्योंकि सर्व विषयानन्द ब्रह्मानन्द का अंश मात्र है, "इस ही आनन्द के लेश को अन्य जीव भोगते हैं" यह श्रुति प्रमाण है। इस ही अभिप्राय को लेकर अथर्वणिक ब्रह्मोपनिषद वाले कहते हैं:—

"ज्ञानी शिखा के सहित सब मुण्डन कराके बहि सूत्र को त्याग दे जो अक्षर परंब्रह्म है सो सूत्र है यह समझकर उसको धारण करले। सर्व वेदान्त द्वारा सूचित होने से उस ब्रह्म को सूत्र कहते हैं सूत्र नाम परं पद यानी ब्रह्म का है। उस सूत्र को जिसने जान लिया वह वेदान्त का पारगामी (यानी वेदान्त के रहस्य यानी ब्रह्म तत्व को जानने वाला) विप्र है। जिससे यह सब ऐसे व्याप्त है जैसे सूत्र से मणि के व्याप्त होते हैं उस सूत्र को वह योगी धारण करे जो योग का जानने वाला और तत्व के साक्षात्कार वाला है।

उत्तम योग का आश्रय लिये हुए विद्वान् बहिसूत्र को त्याग दे जो ज्ञान वान है सो इस ब्रह्मभाव रूपी सूत्र को धारण करे।

उस सूत्र के धारण करने से वह सूत्र न तो उच्छिष्ट होता है न अपवित्र होता है।

ब्रह्मरूपी सूत्र जिन ज्ञान रूप यज्ञोपवीत वालों के अन्तर्हृदय में प्राप्त है वे ही संसार में सूत्र के ज्ञाता हैं और वेही यज्ञोपवीतधारी हैं जो ज्ञानरूपी शिखावाले, ज्ञान निष्ठ, ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत वाले हैं उनके लिये ज्ञान ही परं यानी सबसे उत्कृष्ट है ज्ञान पवित्र कहलाता है। अग्नि की शिखा (यानी लौ) की न्याई (अर्थात् जैसे शिखा अग्नि से भिन्न नहीं है तद्वत्) जिसके ज्ञानमयी शिखा है (यानी ज्ञान अग्नि ही ज्ञानरूपी शिखा है) वह विद्वान् शिखाधारी कहलाता है अन्य केशधारी नहीं। जो ब्राह्मणादिक त्रिवर्ण वाले पुरुष तो कर्म के अधिकारी हैं वे इस कर्म के अंग रूप यज्ञोपवीत को धारण करो, क्योंकि ऐसा ही कहा है। जिसके ज्ञानमयी शिखा है और ज्ञानमयी यज्ञोपवीत भी है उसही का संपूर्ण ब्राह्मण भाव है यह ब्रह्मवेत्ता लोग जानते हैं

यही यज्ञोपवीत है जो परमात्मपरायण होना है, विद्वान् यज्ञोपवीत वाला होता है तत्वज्ञानी जन उसी को यज्ञ करने वाला जानते हैं॥ इति॥ इसलिये योगी के शिखा और यज्ञोपवीत होते हैं। इसी प्रकार संध्या भी होती है जो शास्त्रगम्य परमात्मा है और जो जीवात्मा अहं वृत्ति से जाना जाता है उन दोनों के महावाक्य से उत्पन्न हुए एकता के ज्ञान से भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला भेद टूट जाता है। इस प्रकार पुनः भ्रान्ति का उदय न होना भ्रान्ति के भंग होने की विशेषता है। जो यह एकत्व ज्ञान है सो यह दोनों जीवात्मा परमात्मा की संधि में यानी मेल में उत्पन्न होने से संध्या नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार दिन रात की संधि में अनुष्ठान होने वाली क्रिया को संधि कहते हैं तद्वत् जान लेना चाहिये। और ऐसा होने पर योगी पुरुष कर्मों में श्रद्धा की जड़ता वाले पुरुषों से भ्रमाया नहीं जा सकता है। "यह प्रसिद्ध मार्ग कौनसा है" इस प्रश्न का उत्तर "यह स्वपुत्रादिक का त्याग करके" इत्यादिक श्रुति से संक्षेप से कहकर "संशय विपरीत मिथ्या ज्ञान का जो कारण

है" इत्यादिक श्रुति से उसी को विस्तार पूर्वक कथन करके अब उपसंहार यानी समाप्ति करते हैं :—

"सर्व कामनाओं का परित्याग करके अद्वैत परमात्मा में स्थिति है" इति क्योंकि क्रोध, लोभादिक काम पूर्वक होते हैं इस काम के परित्याग से सब ही चित्त के दोषों का परित्याग हो जाता है इसी अभिप्राय को लेकर वाज सनेयी संहिता वालों ने पढ़ा है :—"अब निश्चय करके कहते हैं कि यह पुरुष कामरूप ही है" इति ॥ इसलिये निष्काम योगी के चित्त की ही अद्वैत में निर्विघ्न स्थिति हो सकती है ।

शंका :—दण्ड ग्रहण विधि की वासना स युक्ति जो विविदिषा सन्यासी हैं वे जन दण्ड रहित योगी को परमहंस नहीं मानते हैं इस आशंका से कहते हैं :—

समाधान :—"जिसने ज्ञान दण्ड धारण किया है वह एक दण्डी कहलाता है । जिसने काष्ठ दण्ड ग्रहण किया है सर्व भक्षी है (अथवा सर्व का अन्न भक्षी है) और ज्ञान से रहित है । वह महा रौरव नाम वाले घोर नरकों को जाता है तितिक्षा ज्ञान वैराग्य और शमादि गुणों से जो वर्जित है । जो भिक्षामात्र से ही (बिना ज्ञान के) जीवता रहता है वह पापी है यति की वृत्ति का नाशक है । इस भेद को जो जानता है वह परमहंस है" ॥ इति ॥

परमहंस का जो यह एक दण्ड है, वह दो प्रकार का है:—ज्ञान दण्ड और काष्ट दण्ड जिस प्रकार त्रिदण्डी का वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और कायदण्ड, यह तीन प्रकार का दण्ड है तद्वत् ! वाग्दण्डादिक को मनुभगवान ने स्मृति में कहा है:—वाग्दण्ड और मनोदण्ड तथा कर्म दण्ड भी, जिसकी बुद्धि में यह तीनों दण्ड नियम से स्थित हैं वह त्रिदण्डी कहलाता है । पुरुष सर्व प्राणियों के प्रति इन तीनों नियमों का पालन करता हुआ और तब पीछे काम और क्रोध दोनों को रोक कर मोक्ष सिद्धि को प्राप्त होता है" इति ।

उनका स्वरूप दक्ष स्मृति में कहा है:—वाग्दण्ड और मनोदण्ड तथा कर्म दण्ड भी जिसके यह नियमित दण्ड हैं वह त्रिदण्डी कहलाता है।

वाग्दण्ड होने पर, मौन धारण करके स्थित होवे, कर्म दण्ड में चेष्टा रहित हो रहे, और मन का दण्ड तो प्राणायाम कहा है ॥इति॥

"कर्म दण्ड अल्प भोजन करना है" यह दूसरी स्मृति में पाठ है। ऐसा त्रिदण्ड होना, परम हंस के लिये भी विदित है। इसी अभिप्राय को लेकर, पितामह ब्रह्माजी की यह स्मृति है:—

परमहंस यति को तो, श्रुति ने तुर्य नाम से कहा है, यम और नियम से युक्त त्रिदण्ड धारी, विष्णु रूप है" ॥इति॥

इस प्रकार होने पर, मौनादिक को वाणी के निरोधादिक का हेतु होने से जिस प्रकार दण्ड रूपता है, इसी प्रकार अज्ञान तत्कार्य के दमन का हेतु होने से ज्ञान दण्ड रूप है। यह ज्ञान दण्ड जिस परमहंस ने धारण किया, वही मुख्य एक दण्डी कहलाता है। मानसी ज्ञान दण्ड की कभी चित्त के विक्षेप से विस्मृति हो जावे, इस लिये, उसके निवारण के वास्ते, स्मरण कराने वाला काष्ठ दण्ड धारण किया जाता है। उस इस शास्त्र के गुह्य अर्थ को न जानकर वेष मात्र से पुरुषार्थ सिद्धि के अभिप्राय से काष्ठ दण्ड जिस परमहंस ने धारण किया है, वह पुरुष बहु विध संतापयुक्त होने से घोर महा रौरव नाम वाले नरकों को जाता है। उस में कारण को कहते हैं:—परमहंस वेष को देखकर यह ज्ञानी होगा इस भ्रम से सब जन उस यति को अपने २ गृह में भोजन कराते हैं। वह आप जिह्वा लम्पट होकर, विदित निषेध को न मान कर सब प्रकार के अन्न को खा लेता है इससे अज्ञानी यति प्रतिवाय को यानी पाप को प्राप्त होता है। और जो यह स्मृति वाक्य है कि "सन्यासी को अन्न का दोष नहीं लगता है।" "चतुर्वर्ण की भिक्षा लेवे" इत्यादिक सो तो ज्ञानी के विषय में हैं। यह तो

ज्ञान वर्जित है इसलिए उसको नरक होना उचित है। इसी लिये, ज्ञानहीन यति के प्रति मनुजी भिक्षा के नियम को कहते हैं:—"न उत्पात के निमित्तों को बताकर और न ज्योतिष विद्या से, न अनुशासन के वचनों से कभी भिक्षा सम्पादन की इच्छा करे। एक समय ही भिक्षाटन करे, अधिक में आसक्त न होवे क्योंकि भिक्षा में आसक्त हुआ यति विषयों में भी आसक्त हो जावेगा।" ज्ञानाभ्यासी के प्रति तो स्मृति में ऐसे कहा है:—

"परम हंस सन्यासी एक बार अथवा दो बार भोजन करे। जिस किस प्रकार से सदा ज्ञानाभ्यासी होकर रहे।" इति॥ और इस प्रकार होने पर ज्ञान दण्ड और काष्ठ दण्ड इन दोनों में से जो भीतर की उत्तमता अधमता है उसको जानकर जो पुरुष उत्तम ज्ञान दण्ड को धारण करता है, वही मुख्य परम हंस है, यह जानना चाहिये।

भला ज्ञानी परमहंस के ज्ञान दण्ड रहो, काष्ठ दंड की विधी न सही परन्तु और शेष सर्व व्यवहार कैसा होगा? इस आशंका से श्रुति कहती है:—भिक्षु, दिशा रूपी वस्त्रों का धारण करने वाला यानी वस्त्र रहित हो कर नमस्कार करने से रहित स्वधाकार यानी पितृ कर्म से रहित, स्वाहाकार से यानी यज्ञ कर्म से रहित, निन्दा स्तुति को त्याग कर नियम रहित होकर रहे, न देवता का आह्वान, न विसर्जन, न मंत्र, न ध्यान, न उपासना, न लक्ष्य, न वाच्य, न भेद, न अभेद, और न मैं, न तू, न सर्व, जो नियत निवास से रहित ही है वह भिक्षु सौवर्णादिक का ग्रहण न करे न शिष्यों को रखे और न देखे।

आशा अर्थात् दिशा रूप ही हैं वस्त्र जिसके, वह आशाम्बरधारी है यानी वस्त्र त्यागी है। और जो स्मृति का वचन है:—

घुटने से ऊपर और नाभी से नीचे एक वस्त्र धारण किये और दूसरा वस्त्र ऊपर धारण करके गृह में भिक्षा मांगने जावे॥ इति॥ सो यह अयोगी के विषय में है। इसीलिये पहले "और वह मुख्य नहीं है" यह कहा था। यद्यपि दूसरी स्मृति प्रमाण है:—

"जो प्रथम का सन्यासी हो, यदि धर्म से तुल्य भी हो, तो उसके प्रति प्रणाम कर्तव्य है, दूसरे को कदाचित नहीं।" ।।इति।। यह बचन भी अपयोगी के विषय में है इस लिये उस योगी के प्रति नमस्कार करने की कर्तव्यता नहीं है। इसी लिये ब्राह्मण के लक्षण में "नमस्कार से रहित, स्तुति से रहित होना" ऐसा कथन किया है।

गया, प्रयागादिक तीर्थों में प्राप्त जो स्वधाकार (पितृ कर्म) है उसको निषिद्ध बताया है, पूर्व के "निन्दा" गर्व इत्यादि वाक्य से दूसरों से स्वनिंदा से होने वाले क्लेश का निषेध किया था, यहां तो स्वकृत अन्य की निन्दा स्तुति का निषेध किया है। यादच्छिकत्व नाम हठ से रहित होने का है। किसी भी व्यवहार में आग्रह न करे। और जो देव पूजा में नियम विधि, स्मृति में कही है कि:—

भिक्षाटन, जप, शौच, स्नान, ध्यान और देव पूजन, यह षट कर्म सर्वथा राजदण्ड की न्याई कर्तव्य हैं।" ।।इति वह वाक्य भी, अयोगी के विषय में है, इस अभिप्राय से, "न आवाहन करे" यह वेद वाक्य कहा। एक वार स्मरण ध्यान है, निरन्तर पुनः पुनः स्मरण उपासना है यह दोनों का भेद है। जिस प्रकार योगी के लिये, स्तुति निन्दा आदिक लौकिक व्यवहार का अभाव है, अथवा जिस प्रकार देव पूजनादिक शास्त्रीय व्यवहार का अभाव है, इसी प्रकार लक्ष्यत्व आदिक ज्ञान शास्त्र का व्यवहार भी उसके लिये नहीं है। जो साक्षी चैतन्य है, सो यह तत्वमसि इस वाक्य में त्वं पद का लक्ष्य है, देहादि विशिष्ट चैतन्य लक्ष्य नहीं है किन्तु वाच्य है। और वह वाच्य ततपद के अर्थ से भिन्न है लक्ष्य से अभिन्न है। स्वदेह निष्ठ वाच्य अर्थ, "अहं" इस व्यवहार के योग्य है। पर देह निष्ठ, "त्वं"इस व्यवहार के योग्य है। यत्च्य वाच्य इस दोनों प्रकार का चैतन्य सहित, अन्य जड जगत "सर्वं" इस व्यवहार के योग्य है। इत्यादिक प्रकार का कोई भी विकल्प योगी को नहीं होता है, क्योंकि उसका चित्त ब्रह्म में विश्रान्त है। इसी लिये वह भिक्षु अनिकेत

स्थिति वाला ही है। यदि नियत निवास के लिये, कोई मठ बनावे, तब उस में ममत्व होने पर, उसकी हानि वृद्धि से, चित्तको विक्षेप होवे। इस अभिप्राय से गौड़ पादाचार्य कहते हैं:—

"स्तुति नमस्कार से रहित, और स्वधाकार से भी रहित और चल, यानी देह रूपी और अचल यानी ब्रह्म रूपी, ग्रह वाला (यानी अन्य कोई नियत मठादिक जिसके नहीं है) ऐसा यति, यथा प्रारब्ध (बिना किसी हठ नियमादिक के) स्थिति धारण करे ॥इति॥ जिस प्रकार मठ को न धारण करे इसी प्रकार सुवर्ण रजत आदिक के भिक्षा और आचमनादिक के पात्रों में से, एक को भी ग्रहण न करे। सो यम ने स्मृति में कहा है:—

सुवर्णमय पात्र और लोहे के भी बने हुए, यह यती के लिये अपात्र हैं, इन को भिक्षुक त्याग देवे ॥इति॥

मनुजी ने भी कहा है:—उस यति के लिये धातु रहित पात्र और जो फूटे हुए न हों ऐसे हों, उनकी मृतिका से शुद्धि बतलाई है जैसे यज्ञ के चमस इत्यादि पात्रों की होती है।

तूंबी का पात्र हो, काष्ठ का पात्र हो, अथवा मृतिका का हो तथा वांस का हो, यह यति के पात्र हैं, स्वयंभू मनु ने कहे हैं ॥इति॥

बोधायन ने भी कहा है:—अपने आप गिरे हुए पुनः आप लाये हुऐ पत्रों पर, भोजन करे, बट, पीपल, और करंजों के पत्तों पर भोजन न करे।

आपत्ति काल में भी कांसी के पात्रों में भोजन न करे क्योंकि कांस्य पात्र में खाने वाला यती मल भक्षी होता है और जो सुवर्ण रजत ताम्र मृन्मय और सीसे के पात्रों में खाता है, (वह भी मल भक्षी होता है, यहां दूसरों के मृन्मय पात्रों में खाने का निषेध है अपने मृन्मय पात्र तो अन्यत्र विदित है)।

तथा लोक को यानी जनता शिष्य वर्ग को न ग्रहण करे। सो मनु ने कहा है:—"मोक्ष प्राप्ति के लिये सदा अकेला ही विना सहायता के विचरे।

क्योंकि एक परमात्मा रूप न सिद्धि को देखता हुआ न ग्रहण करता है न त्यागता है" ॥इति॥

मेधा तिथि ग्रन्थ भी प्रमाण है:—"आसन और पात्र का लोप, संचय शिष्यों का संग्रह, दिन का सोना और वृथा बात चीत, यह षट दोष यति को बन्धन करने वाले हैं। ग्राम में एक दिन बहुत हैं पुर यानी नगर में पांच दिन पर्यन्त निवास करे, वर्षा से पृथक समय में जो रहना है वह आसन (यानी निषिद्ध वास करना) कहलाता है।

विदित तूंबी आदिक पात्र में से एक का भी संग्रह न करना भिक्षा मांग कर खाने वाले भिक्षु के लिये पात्र लोप कहलाता है। ग्रहण किये हुए दण्डादिक से अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का कालान्तर उपभोगके लिये ग्रहण करना संचय कहलाता है। सेवा लाभ पूजा के लिये अथवा यश के लिये शिष्यों का बनाना परन्तु दया के लिये नहीं, वह शिष्य संग्रह है। प्रकाश रूप होने से विद्या दिन है, अविद्या रात्री कहलाती है। जो विद्या के अभ्यास में प्रमाद है सो दिन का सोना कहलाता है। आत्म संबंधी कथा को छोड़ कर भिक्षाटन और देवस्तुति को छोड़कर अनुग्रह पूर्वक पथिक से कुशल प्रश्न वृथालाप कहलाता है। लोक यानी शिष्य जनको न ग्रहण करे, इतना ही नहीं किन्तु शिष्य जनका दर्शन भी न करे। क्योंकि वह बन्धन का हेतु है। "न च" इस शब्द से यह कहा कि अन्य भी स्मृति निषिद्ध कर्म न करे यह अभिप्राय है। उस निषिद्ध कर्म को मेधा तिथि में दिखलाया है:—

दालादिक तिलादिक स्थावर वीज को, अण्डे आदिक जंगम बीज को, तैल तथा बादामादिक की मिंगी रूप तैजस वीज को, संख्यादिक विष को, शस्त्र को, इन षट वस्तुओं को यति मूत्र पुरीषवत् जानकर ग्रहण न करे। रसायन को, कर्म काण्ड में विवाद को, ज्योतिष को, लेन देन को, अथवा मोल लेने वेचने को और नाना प्रकार की कारीगरी को, पर स्त्री के त्याग की न्याईं त्याग देवे"। इति॥

योगी के लौकिक वैदिक व्यवहारगत जो बाधक आचार हैं उनको त्याग करना कहा है। अब प्रश्नोत्तर द्वारा अत्यन्त बाधक दिखाकर उसके त्याग को कहते हैं :—"अत्यन्त हानिकारक क्या है ऐसा पूछे तो हानिकारक भी होता ही है। क्योंकि भिक्षु स्वर्ण को यदि रस पूर्वक देखे तो वह ब्रह्म हत्यारा होता है क्योंकि भिक्षु स्वर्ण को रस पूर्वक स्पर्श करे तो वह चाण्डाल होता है। क्योंकि भिक्षु स्वर्ण को रस पूर्वक ग्रहण करे तो वह आत्मघाती होता है। इसलिये भिक्षु स्वर्ण को न तो रस पूर्वक देखे और न छुवे और न ग्रहण करे" इति ॥ आकार अभिव्याप्ती के अर्थ में है। "आङ् अल्प अर्थ में और अत्यन्त अर्थ में होता है" ऐसा कथन किया है। अभिव्याप्त बाधक अर्थात् जो अत्यन्त बाधक है उसके सद्भाव को जानकर स्वर्ण की अत्यन्त बाधकता को कहते हैं। रस पूर्वक यानी अभिलाषा युक्त आदर से यदि स्वर्ण को देखे तब वह द्रष्टा भिक्षु ब्रह्म हत्यारा होता है। स्वर्ण में आसक्त होने से उसके संपादन रक्षा में सर्वथा प्रयत्नशील होकर उस स्वर्ण की व्यर्थता के परिहार के वास्ते प्रपञ्च के मिथ्यत्व कहने वाले उपनिषदों में दोष लगाकर स्वर्ण की सत्यता का आश्रय लेता है इसलिये शास्त्र प्रसिद्ध अद्वितीय ब्रह्म को मानो उस भिक्षु ने हनन कर दिया है इसलिये वह ब्रह्म हत्यारा है। और ऐसा ही स्मृति में कहा है :—

"जो पुरुष ब्रह्म नहीं है ऐसा कहता है और जो ब्रह्म ज्ञानियों से द्वेष करता है और जो व्यर्थ निष्फल ही ब्रह्म का वक्ता है यह तीनों जन ब्रह्म हत्या करने वाले होते हैं" ॥ इति ॥

"उसको तो ब्रह्म घातक जानना वह सर्व धर्मों से भ्रष्ट है।"

अभिलाषा पूर्वक यदि स्वर्ण को छुवे तो उसका स्पर्श करने वाला भिक्षु पतित होने से चाण्डाल होता है म्लेच्छ के सदृश होता है उसका पतित होना स्मृति में कहा है :—

"वह भिक्षु निश्चय करके पतित हो जाता है जिस भिक्षु के दो पाप होते हैं जान बूझ कर वीर्य्य पात करना और द्रव्य का संचय करना भी"॥ इति॥

अभिलाषा पूर्वक स्वर्ण को न ग्रहन करना चाहिये। यदि ग्रहणकर लिया हो तो वह भिक्षु देह इन्द्रिय के साक्षी असंग चैतन्य आत्मा का घाती होता है क्योंकि अपने आत्मा की असंगता को भूलकर वह उसको स्वर्ण आदिक द्रव्य का भोक्ता मानता है। और इसलिये भ्रान्ति ज्ञान के कारण उसकी सर्व पाप रूपता स्मृति में कही है :—

"जो अन्यथा स्वरूप वाले यानी असग आत्मा को अन्यथा यानी कर्त्ता भोक्ता संगवान मानता है उस आत्म घातक चोर ने क्या पाप नहीं किया" ॥ इति ॥

और भी यह है कि आत्म घाती को सुख के लेश से रहित बहु विधि दुःखों से व्याप्त लोकों की प्राप्ती श्रुति में सुनी है :—"वे प्रसिद्ध प्रकाश रहित लोक हैं और घोर तम से युक्त हैं। वे जन मरकर उन लोकों को प्राप्त होते हैं जो आत्मा के हनन करने वाले हैं" ॥ इति ॥

"दृष्टं च" (और न देखे) इस वाक्य में चकार से श्रुति का भी संग्रह किया है। "स्पृष्टं च" इस वाक्य से कथित का भी समुच्चय है। दर्शन स्पर्शन ग्रहण की न्याई अभिलाष पूर्वक स्वर्ण वृत्तान्त का श्रवण उसके गुण का कथन, उसके क्रियादिक व्यवहार भी प्रत्यवाय पाप के कारण हैं यह अर्थ है। क्योंकि अभिलाष पूर्वक स्वर्ण के दर्शनादिक पाप जनक है इसलिये भिक्षु ने स्वर्ण के दर्शनादिक का त्याग करना चाहिये। यह अर्थ हुआ।

स्वर्ण त्याग के फल को श्रति कहती हैं:—उसकी सर्व मनोगति कामना छूट जाती हैं, दुःख में उद्वेग नहीं होता, सुख में तृष्णा से रहित राग का त्याग सर्वत्र शुभाशुभ के स्नेह से रहित न अशुभ से द्वेष करता है न शुभ में आनंद मानता है और जो आत्मा में स्थित रहता है उसके सर्व इन्द्रियों की गति का निरोध हो जाता है यह अर्थ हुआ" ॥ इति ॥

क्योंकि पुत्र, भार्या, गृह, क्षेत्र आदिक भोग पदार्थ सब ही का मूल स्वर्ण है इसलिये स्वर्ण के त्यागने पर वे मनोगत भोग कामना मन के परमात्मा में स्थित रहने पर निवृत्त हो जाती हैं यानी छूट जाती हैं। कामना के निवृत्त होने पर कर्म से प्राप्त दुःख से उद्वेग और सुख की तृष्णा दोनों दोष नहीं होते हैं और यह स्थित प्रज्ञ के प्रसंग में विस्तार पूर्वक कह दिया है। इस लोक के सुख दुःखों के अनादर होने पर परलोक विषय में भी राग का त्याग हो जाता है। क्योंकि इस लोक के सुख की तृष्णा वाला इसी रीति से अनुमान किये हुए परलोक के सुख में भी रागवान होता है इसलिये जो इस लोक के सुखों की त्रष्णा से रहित है उसका परलोक में भी राग नहीं रहता है ऐसा होने पर सर्वत्र दोनों लोकों में भी जो शुभाशुभ अनुकूल प्रतिकूल विषय हैं उन दोनों में स्नेह रहित होता है। यह द्वेषा भाव को भी ऊपर से लखाता है। वैसा विद्वान् अशुभ करने वाले किसी भी पुरुष स द्वेष नहीं करता है और न भलाई करने वाले में सुख मानता है। द्वेष और मोद दोनों से रहित होकर जो पुरुष स्थिर स्थित रहता है उसके सर्व इन्द्रियों की प्रवृत्ति रुक जाती है। इन्द्रियों के निरुद्ध होने पर निर्विकल्प समाधी में कोई भी विघ्न नहीं होता है। उनकी क्या स्थिति है इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप विस्तार से पूर्व कथन कर चुके हैं, उस ही को यहां फिर भी स्वर्ण के निषेध के प्रसंग से स्पष्ट कर दिया।

ब्रह्माजी अब विद्वत् सन्यास का उपसंहार करते हैं, यानी प्रसंग समाप्त करते हैं:—"जो पूर्ण आनन्द एक बोध स्वरूप है, वह ब्रह्म मैं हूं, यह जान कर कृत कृत्य होता है" ॥इति॥ जो ब्रह्म उपनिषदों में पूर्ण आनन्द एक ज्ञान स्वरूप परमात्मा कह कर निरूपण किया गया है वह ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार सदा अनुभव करता हुआ, यह योगी परमहंस कृत कार्य होता है यानी अन्य कर्तव्य उसको कुछ ही शेष नहीं रहता है। और ऐसा ही स्मृति में कथन किया है:—

"ज्ञान रूपी अमृत से तृप्त और कृतकार्य योगी को कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता है और यदि हो तो वह तत्व ज्ञानी नहीं है।" ।।इति।।

"जीवन्मुक्ति विवेक द्वारा हृदय के बंध को निवृत्त करते हुए भारती तीर्थ जो हमारे गुरु हैं, उन से अभिन्न परमात्मा, हम को सकल पुरुषार्थ की प्राप्ती प्रदान करें"।

।। इति विद्वत् सन्यास निरूपणं नाम पञ्चमं प्रकरणं ।।

"भेद अभेद जिनके संपूर्ण गलित होगये, पुण्य पाप छिन्न हो गये, माया और मोह क्षीण होगये, संशयात्मक वृत्ति नष्ट होगई जो शब्द से अतीत और त्रिगुण रहित हैं ऐसे वास्तविक स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त होकर त्रिगुणातीत मार्ग पर विचरने वाले, उन विद्वानों को, क्या विधि है और क्या निषेध है?" ।।१।।

आत्मज्ञान परायण योगी जन, जल से पूर्ण तीर्थों का और मृत्तिका पाषाण के बने हुए देवताओं का आश्रय नहीं लेते हैं ।।२।।

द्विजातीयों का देवता अग्नि है, मुनियों के हृदय में देवता है स्वल्प बुद्धि वालों के लिये प्रतिमा में देवता है, और आत्म ज्ञानियों के लिये सर्वत्र ही परमात्म देव है ।।३।।

जो जन सर्वत्र स्थित और शान्त जनार्दन भगवान की शरण को नहीं प्राप्त होते हैं, वह ज्ञान रूपी चक्षु से इस प्रकार हीन हैं, जैसे प्रकाशित सूर्य के होते हुए भी चर्म चक्षु से हीन जन होते हैं ।।४।।

।। इति श्रीमद् विद्यारण्य प्रणीतो जीवन्मुक्ति विवेकः तस्य सीताराम गुप्त कृत हिन्दी भाषानुवादो जीवन्मुक्ति रसायनो नाम परि समाप्तः ।।

।। ब्रह्मार्पण मस्तु । शुभं भवतु ।।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१४	८	भय	भय से
१८	३	जाओ	जाओ"
१८	१३	विरोध	निरोध
२३	५	इतर समष्टि	इतर व्यष्टि
२४	६	अभाव रूप अस्थित प्रज्ञता	अभाव रूप स्थित प्रज्ञता
२६	४	तामस रूप होने से	तामस रूप
"	८	अभाव से	अभाव
२६	३	बारहवें श्लोक अध्याय	बारहवें अध्याय
"	६	समझने के	समझने से
"	१०	द्वन्द को	द्वन्दों को
३१	२४	से निष्प्रयोजन	से, निष्प्रयोजन,
३६	१०	भयदायक न होवें	शून्यता भयदायक न होवे
३७	२२	सुवर्ण	स्वर्ण
"	"	सुवर्ण	स्वर्ण
४१	२	घिस के तार	भिस के तार
४२	१६	विरुद्ध	निरुद्ध
४६	११	परनिन्ना	पर निन्दा
४६	२३	अध्यास	अध्याय
४७	८	विरुद्ध	निरुद्ध
"	११	मुक्ति	युक्ति
४८	१२	बलराम	नल, राम,
४६	१	प्राण	घ्राण
५०	१	स्वरूप त्वेव	स्वरूप त्वेन
५१	६	तर	इतर
५६	८	ने	में

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
६३	२	कणा	कणु
६६	१३	(अस्पर्य)	(अस्पर्श्य)
६६	२०	श्री जीवन्मुक्ति विवेक रसायन	× × × × ×
६६	२३	वासना	स्थूल वासना
७०	६	वासनेयी	वाजसनेयी
७१	१८	ह	है
७६	२३	जन्म	जन्य
७७	१७	उपलक्ष्य	उपलक्षक
७६	६	तब भी	तब भी जो
८३	२	पवा	मवा
८३	४	था	थी
८४	२१	क्रोध	कोप
८५	२	लीजिये	आसरा लीजिये
८७	१६	विरुद्ध	निरुद्ध
८७	२०	यदि	यति
८७	२१	वाघी	बाग़ी
८८	२१	दो	दे
६४	६	अजिह्मत्व	अजिह्मत्व से
६६	१०	बोध न	बोधन
६७	१८	है	हैं,
६७	२५	दूसरा दृढ़ वासना	दूसरी दृढ़ वासना,
६८	१२	चित	चित्त
६६	२५	पद्ल्लक	पदम
१००	४	उपाय है	उपाय है ॥
१०३	१६	कुंभक	कुंभक,

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	१६	अमध्य	भ्रूमध्य
११०	१	कउन	के उन
११२	६	म	में
११३	१८	क	के
११४	५	वे	के
,,	१८	संपित	संवित्
११७	२१	नियम न	नियमन
११८	१०	करती	करनी
,,	१६	शांतात्मा	शान्तात्मा ॥
,,	२३	मान्य रूप	मान्य रूप,
११६	६	विषय	विषय,
१२२	२१	प्रबुद्धि	प्रबुद्ध
१२८	२	(साधर्न्य)	(साधर्म्य
,,	१४	अद्वत	अद्वैत
१३०	४	देखता है	देखता है।
१३६	३	सकता	सकना
,,	१८	चलायमान	चलायमान
१३७	१४	प्रथन	प्रथम
१४०	१४	(यानी सत्व में)	(यानी सत्य में)
,,	२१	निरूपण नाम तृतीय प्रकरण	निरूपणं नाम तृतीयं प्र[illegible]
१४२	२०	युक्त	वियुक्त
१४४	७	उपजने	उपजन
१४६	१	दिशाओं	दशाओं
१४७	७	पञ्च	पञ्चमी

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	११	बाधित	बोधित
,,	१२	वाक्य	वाक्य है
१५३	१	सर्व वेदसं	सर्वं वेदसं
,,	६	अग्नि होतर	अग्नि होत्र
१५५	१	प्रमेह	प्रमेय
१५६	६	में	में,
१५७	१	शान्वि	सान्वि
,,	,,	का महत	कामहत
१५८	१३	उपशय	उपशम
१६१	१०	जो	×
१६२	२	इति	सो यह योगी परमहंसों का का कौनसा मार्ग है उनकी क्या स्थित है"
,,	४	स्थित	स्थिति
,,	११	यह	यह है
१६३	१६	मुक्त	मुक्त
१७१	३	अन्यादिक	अन्नमयादिक
१७६	२१	विदित	विहित
१७८	६	यादिच्छकत्व	यदृच्छकत्व
१८२	२२	दाग	राग